देववाणी

स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण आश्रम
नागपुर, मध्यप्रदेश

देववाणी

स्वामी विवेकानन्द

अनुवादक — पण्डित व्रजनन्दन मिश्र

श्रीरामकृष्ण आश्रम
नागपुर, मध्यप्रदेश

वक्तव्य

अमेरिका में अनेक व्याख्यान देने के पश्चात् सन् १८९५ में स्वामी विवेकानन्द 'सहस्रद्वीपोद्यान' नामक शान्त और एकान्त स्थान में चले गये थे। यह स्थान न्यूयार्क के सन्निकट है। उनके कुछ शिष्य इस शान्त वातावरण में स्वामीजी के सान्निध्य का लाभ उठाने की दृष्टि से उनके साथ रहे। वहाँ स्वामीजी ने कुछ सप्ताह निवास किया था। इसी समय आप अपने शिष्यों को प्रतिदिन आध्यात्मिक विषयों पर उपदेश दिया करते थे जो उनकी एक शिष्या कुमारी एस. ई. वैल्डो, न्यूयार्क, ने लिख लिये थे। बाद में वे 'Inspired Talks' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। प्रस्तुत पुस्तक उसी का हिन्दी रूपान्तर है। इन उपदेशों में स्वामीजी का द्रष्टा एवं आदर्श गुरु-रूप उद्घाटित होता है। हृदय से उद्भूत होने के कारण इनमें स्वामीजी की दिव्य प्रज्ञा तथा अनुभूति की गहनता भी प्रतीत होती है।

श्री पं. व्रजनन्दन मिश्र, राजकोट के हम बड़े आभारी हैं जिन्होंने यह अनुवाद बड़ी सफलतापूर्वक किया है।

श्री पं. शुकदेवप्रसादजी तिवारी (श्री विनयमोहन शर्मा) एम. ए., एल-एल. बी., प्राध्यापक, नागपुर महाविद्यालय के भी हम बड़े आभारी हैं जिन्होंने इस पुस्तक के कार्य में हमें बहुमूल्य सूचनाएँ दी हैं।

श्री पं. विद्याभास्करजी शुक्ल, एम. एस-सी., पी-एच. डी., प्राध्यापक, कालेज आफ साइन्स, नागपुर को भी हम धन्यवाद देते हैं जिन्होंने इस पुस्तक के प्रूफ-संशोधन में हमें बड़ी सहायता दी है।

हमें विश्वास है, ज्ञान एवं शान्ति के पिपासुओं को इस पुस्तक से निश्चय ही तुष्टि होगी।

नागपुर,
१५-११-१९५०

प्रकाशक

अनुक्रमणिका

स्वामी विवेकानन्द

प्राक्कथन

अमेरिका में स्वामीजी

१८९३ ईसवी के ग्रीष्म काल में एक तरुण हिन्दू संन्यासी ने वेन्कुवर शहर में पदार्पण किया। उन्होंने शिकागो की धर्मसभा में सम्मिलित होने के लिए यात्रा की थी, किन्तु वे किसी सर्वजनपरिचित धर्मसंघ द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि के रूप में नहीं गए थे। कोई भी उन्हें पहचानता नहीं था, एवं उनका सांसारिक ज्ञान भी अधिक नहीं था; फिर भी मद्रास के अनेक उत्साही युवकों ने उन्हें ही इस महान् कार्य के लिए चुना था, क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि दूसरे किसी व्यक्ति की अपेक्षा वे ही भारत के प्राचीन धर्म के योग्यतर प्रतिनिधि हो सकते हैं। और इसी विश्वास के कारण उन लोगों ने द्वार द्वार पर भिक्षा माँगकर उनकी यात्रा के लिए धन संग्रहीत किया था। दो एक देशी नरेशों ने भी इस कार्य के लिए कुछ दान दिया था। केवल इसी धन के सहारे तरुण संन्यासी—उस समय के अपरिचित स्वामी विवेकानन्द—इस लम्बी यात्रा को पूरी करने में प्रवृत्त हुए।

इस प्रकार का महान् उद्देश्य लेकर यात्रा करने में उन्हें अत्यधिक साहस का अवलम्बन करना पड़ा था। भारत की पुण्यभूमि छोड़कर विदेश-यात्रा करना हिन्दुओं के लिए कितना गुरुतर कार्य

है, इस बात की हम पाश्चात्यवासी कल्पना नहीं कर सकते। संन्यासियों के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से सत्य है; क्योंकि जीवन के व्यावहारिक जड़प्रधान अंश के साथ उनकी समस्त शिक्षा-दीक्षा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। रुपया-पैसा लेकर पर्यटन करने में अथवा अपने पैरों के अतिरिक्त किसी अन्य साधन के द्वारा भ्रमण करने में अभ्यस्त न होने के कारण स्वामीजी इस लम्बे मार्ग के प्रत्येक स्थान में ठगे गये, एवं लोगों ने उनके रुपये-पैसों को खूब लूटा। जब वे शिकागो पहुँचे, तब प्रायः उनके पास एक कौड़ी भी नहीं बची थी। वे साथ में परिचयपत्र भी नहीं लाये थे, और इस महानगरी में वे किसी को पहचानते भी नहीं थे!* इस तरह अपना देश छोड़कर हज़ारों कोस दूर अपरिचित स्थान में अपरिचित लोगों के साथ रहना एक दृढ़ हृदयवाले मनुष्य के भीतर भय का संचार किये बिना नहीं रहता; किन्तु स्वामीजी सब कुछ भगवान् के हाथ में समर्पित कर चुके थे; उनका दृढ़ विश्वास था कि भगवान् की कृपा उनकी सर्वदा रक्षा करती रहेगी।

वे जिस होटल में ठहरे थे उस होटल के मालिक की तथा अन्य लोगों की अत्यधिक माँग की पूर्ति वे लगभग एक पक्ष तक कर सके।

* बाद में एक मद्रासी ब्राह्मण ने शिकागो-निवासी एक सद्गृहस्थ को स्वामीजी के विषय में लिखा था और उन्होंने इस हिन्दू युवक को अपने परिवार में स्थान दिया था। इस तरह जिस बन्धुभाव का सूत्रपात हुआ वह स्वामीजी जब तक जीवित रहे तब तक अक्षुण्ण रहा। परिवार के सभी लोग स्वामीजी को खूब चाहते थे। उनके अपूर्व सद्गुणों के कारण वे लोग उनकी ओर आकृष्ट हुए थे, एवं उनके चरित्र की पवित्रता तथा सरलता का आदर करते थे। इन सभी बातों का वे सर्वदा प्रीति तथा हृदय से उल्लेख करते थे।

उनके पास जो कुछ धन था, वह इस समय इतना कम होगया था कि उन्होंने अच्छी तरह जान लिया कि यदि वे रास्ते में भूख से प्राणत्याग न करना चाहते हों तो उन्हें तत्क्षण एक ऐसा स्थान खोज लेना होगा, जहाँ पर रहने का खर्च अपेक्षाकृत कम हो। जिस महत्कार्य के भार को उन्होंने इस प्रकार साहस के साथ ग्रहण किया था, उसे छोड़कर जाना उनके लिये अत्यन्त कष्टकर था। क्षण भर के लिये नैराश्य और संदेह की बाढ़ उनके ऊपर से बह गई और वे यह सोचकर विस्मित होने लगे कि उन्होंने गरम दिमागवाले उन मद्रासी स्कूली लड़कों की बातें एक निर्बोध व्यक्ति के समान कैसे मान लीं? किन्तु कोई दूसरा उपाय न देखकर वे अत्यन्त दुःखित चित्त से रुपयों के लिये तार करने एवं प्रयोजन पड़ने पर भारत लौट जाने का संकल्प करके बोस्टन की ओर रवाना हुए।

किन्तु जिनके ऊपर वे दृढ़ विश्वास रखते थे, उन ईश्वर की इच्छा कुछ दूसरी ही थी। रेलगाड़ी में एक प्रौढ़ महिला के साथ उनका परिचय हुआ, और स्वामीजी के सम्भाषण से वे इतनी प्रभावित हुईं कि उन्होंने उन्हें अपने घर में आतिथ्य ग्रहण करने के लिये आमंत्रित किया। यहाँ पर हार्वर्ड विश्वविद्यालय के एक अध्यापक के साथ उनकी मित्रता हुई। उन्होंने एक दिन एकान्त में स्वामीजी के साथ चार घण्टे तक वार्तालाप किया। उनकी असाधारण क्षमता देखकर वे इतने मुग्ध हुए कि वे स्वयं उनसे कहने लगे — "आप शिकागो-धर्मसभा में हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में क्यों नहीं जा रहे हैं?"

स्वामीजी ने अपनी सभी असुविधायें उन्हें समझा दीं। उन्होंने कहा — "मेरे पास धन भी नहीं है और उक्त महासभा से सम्बन्ध

रखने वाले किसी व्यक्ति-विशेष के नाम मेरे पास परिचयपत्र भी नहीं है।" प्राध्यापक ने उत्तर दिया — "मि. बोनि मेरे मित्र हैं, मैं आपको उनके नाम एक पत्र दूँगा।" यह कहकर उन्होंने उसी क्षण एक पत्र लिख दिया। उस पत्र में उन्होंने यह भी लिखा, "मैंने यह देखा कि हमारे सब पण्डितों का जितना पाण्डित्य है, उससे कहीं अधिक पाण्डित्य इस अज्ञात हिन्दू का है।" इस पत्र को तथा उन प्राध्यापक द्वारा दिए हुए एक टिकट को लेकर स्वामीजी शिकागो की ओर लौटे और बिना किसी कठिनाई के वे प्रतिनिधि के रूप में परिगृहीत हो गए।

अन्त में महासभा के प्रारम्भ का दिन आया, और स्वामी विवेकानन्द ने प्राच्य प्रतिनिधियों की श्रेणी में स्थान ग्रहण कर प्रथम दिन के अधिवेशन में सभामंच पर पदार्पण किया। उनका उद्देश्य सफल हुआ, किन्तु उस विराट श्रोतृमण्डली की ओर दृष्टिपात करते ही एक आकस्मिक उद्वेग से वे अभिभूत हो गए। अन्य सभी लोग अपने अपने भाषण तैयार करके लाये थे; परन्तु स्वामीजी के पास कुछ भी नहीं था। प्रश्न था कि उन छः सात हज़ार नर-नारियों के विशाल समुदाय के सम्मुख वे क्या बोलेंगे! प्रातःकाल की बैठक में अपनी बारी आने पर भी वे प्रत्येक बार सभापति महोदय के कान में कह देते थे, "और किसी को पहले बोलने दीजिए।" अपराह्न में भी इसी प्रकार हुआ। अन्त में लगभग पाँच बजे डाक्टर बरोज़ महोदय ने खड़े होकर घोषणा की कि अब स्वामी विवेकानन्दजी का भाषण होगा। यह घोषणा सुनते ही स्वामी विवेकानन्द स्थिर और शान्त होकर उसी क्षण साहस के साथ भाषण देने के लिये खड़े हुए। वक्तृता देने के

लिये खड़े होने का और विशेषतः बहुसंख्यक श्रोताओं के सम्मुख, उनके जीवन में यह प्रथम अवसर था, किन्तु इस वक्तृता का फल हुआ विद्युद्शक्ति के समान। उन उत्सुक सहस्र नर-नारियों की ओर देखकर उनकी शक्ति और वाग्मिता पूर्ण भाव से जागृत हो उठी और उन्होंने अपने मधुनिःस्यन्दी कण्ठ से श्रोतृवर्ग को "अमेरिकानिवासी भगिनी तथा भ्रातृगण" शब्द से सम्बोधित किया। उसी क्षण उन्होंने विजय प्राप्त कर ली और जब तक महासभा का अधिवेशन हुआ तब तक उनका आदर एक दिन के लिये भी कम नहीं हुआ। सभी लोग उनकी वाणी को बराबर आग्रहपूर्वक सुनते थे और उन्हीं की वक्तृता सुनने के लिये गरमी के दिनों में भी प्रत्येक दिन लम्बे अधिवेशन के अन्त तक प्रतीक्षा करते रहते थे।

यही उनका संयुक्त राज्य में कार्यारम्भ था। महासभा का कार्य समाप्त होने पर स्वामीजी ने अपनी आवश्यकता के अनुसार धन आदि के संग्रह के निमित्त एक वक्तृता-कम्पनी (Lecture Bureau) के अनुरोध पर उसकी ओर से संयुक्तराज्य के पश्चिमीय प्रदेश में वक्तृता देने के लिये भ्रमण करना स्वीकार किया। बहुसंख्यक श्रोतृमण्डली के मन को यद्यपि उन्होंने आकृष्ट किया था, तथापि इस नापसन्द काम को उन्होंने शीघ्र ही त्याग दिया। वे इस देश में धर्माचार्य के रूप में आये थे, इसलिए यह एक अत्यन्त लाभजनक व्यापार होने पर भी उन्होंने उसे छोड़ दिया, और १८९४ के प्रारम्भ में अपने प्रकृत कार्य को हाथ में लेने के लिए वे न्यूयार्क आये। शिकागो में रहते समय जिन लोगों से उनकी मित्रता हुई थी, पहले उन लोगों से वे मिले। वे लोग अत्यन्त श्रीमान् थे। वे बीच बीच में उन्हीं लोगों के

निवास-स्थान पर वक्तृता देते थे, परन्तु यह भी उनके मन को न जँचा। वे यह समझ सके कि उन्होंने लोगों के हृदय में जो अनुराग उत्पन्न किया था वह ठीक ठीक उनके मन के अनुकूल नहीं था; वह केवल ऊपर ऊपर का कार्य था, वह तो अधिकांश में आमोदप्रियता मात्र थी। इसलिए उन्होंने अपने लिए एक ऐसा स्थान निर्धारित करने का निश्चय किया जहाँ धनी एवं निर्धन सभी अनुरागी सत्यजिज्ञासु निःसंकोच भाव से आ सकें।

ब्रुकलिन-नीतिसभा में उन्होंने एक वक्तृता दी जिससे उनके अभीप्सित भाव के अनुसार शिक्षा देने का मार्ग सुगम हो गया। इस सभा के अध्यक्ष डाक्टर लुईस् जि. जेन्स इन युवा हिन्दू संन्यासी की वक्तृता सुन चुके थे। उनकी क्षमता से एवं पश्चिम गोलार्धवासी हम लोगों को उनके दिये हुए सन्देश से वे इतने अधिक आकृष्ट हुए कि उन्होंने उनको उक्त सभा की ओर से वक्तृता देने के लिए आमंत्रित किया। १८९४ ईसवी के अन्तिम दिनों में नीतिसभा के अधिवेशन-गृह 'पाउच् प्रासाद' में इतनी भीड़ हुई कि तिल रखने की भी जगह न रही। वक्तृता का विषय था—'हिन्दू धर्म'। स्वामीजी जब लम्बा अंगरखा और पगड़ी से सज्जित हो अपनी मातृभूमि के प्राचीन धर्म की व्याख्या करने लगे, तब लोगों का आग्रह इतना प्रबल हो उठा कि वक्तृता के अन्त में वे इस बात के लिए आग्रह करने लगे कि ब्रुकलिन में नियमित रूप से क्लास हुआ करे। स्वामीजी ने भी स्नेहपूर्वक इस विषय में अपनी अनुमति दे दी। 'पाउच् प्रासाद' में तथा अन्यत्र भी कुछ स्थानों में क्लास प्रारम्भ हुआ, और सर्वसाधारण जनता के समक्ष अनेक वक्तृतायें हुईं।

ब्रुकलिन में जिन्होंने उनका व्याख्यान सुना था, उनमें से अनेक व्यक्तियों ने स्वामीजी के न्यूयार्क के निवासस्थान पर इस समय जाना आरम्भ किया। स्वामीजी किराये के एक मकान के तीसरे मंजिल की एक साधारण सी कोठरी में रहते थे। वहाँ पर क्लास में छात्रों की संख्या शीघ्र ही इतनी बढ़ी कि चौकी और कुर्सी आदि पर भी बैठने की जगह बिलकुल न रही, तब कुछ छात्र कोने में हाथ मुँह धोने के संगमर्मर के बने हुए ऊँचे स्थान पर और कुछ तो मेज़ के ही ऊपर बैठने लगे। स्वामीजी स्वयं स्वदेश की अपनी प्रथानुसार मेज पर ही आसनबद्ध होकर बैठे और आग्रहवान शिष्यों को वेदान्त के महासत्यों की शिक्षा देने लगे।

अन्त में उन्हें यह ज्ञात हो गया कि पाश्चात्य जगत् में वे अपने आचार्य भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के दिव्य संदेश-प्रचार के महान् कार्य को काफी भलीभाँति प्रारम्भ कर सके हैं। श्रीरामकृष्ण देव का यह सन्देश सभी धर्मों की सत्यता एवं मौलिक एकता की घोषणा करता है। क्लास इतनी शीघ्रता से बढ़ने लगा कि ऊपर की छोटी कोठरी में सभों के लिये बैठने का स्थान न रहा, इसलिये नीचे के दो बैठकखाने भी किराये पर ले लिये गये। इसी जगह स्वामीजी उस ऋतु के समाप्त होने तक शिक्षा देते रहे। यह शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी; स्वेच्छा से जो कोई जो कुछ दान देता था, उसी से आवश्यक खर्च चलाने की चेष्टा की जाती थी। किन्तु जो कुछ द्रव्य प्राप्त होता था वह घर के किराए और स्वामीजी के भोजन आदि व्यय के लिये भी पर्याप्त नहीं था, अत: अर्थाभाव के कारण क्लास उठा देने का समय आगया। इसी समय स्वामीजी ने घोषणा की कि ऐहिक विषयों पर वे सर्व-

साधारण जनता के समक्ष कुछ नियमित व्याख्यान देंगे। इसके लिये उन्हें पारिश्रमिक लेने में कोई बाधा नहीं थी; उसी धन से उन्होंने धर्मसम्बन्धी क्लास चलाना प्रारम्भ किया। उन्होंने श्रोताओं को समझाया कि हिन्दुओं की दृष्टि में केवल निःशुल्क शिक्षा देने से ही धर्मव्याख्या का कर्तव्य समाप्त नहीं हो जाता, आवश्यकता पड़ने पर उन्हें इस कार्य का व्यय-भार भी उठाना होगा। पूर्वकाल में भारतवर्ष में ऐसा भी नियम था कि उपदेष्टा शिष्यगणों के आहार और निवास-स्थान का भी प्रबन्ध करते थे।

इस बीच में कुछ छात्र स्वामीजी के उपदेश से इतने मुग्ध हो गये कि आगामी ग्रीष्म ऋतु में भी वे शिक्षालाभ कर सकें, इसलिये वे अत्यन्त उत्सुक हो उठे। किन्तु स्वामीजी एक ऋतु के कड़े परिश्रम से क्लान्त हो गये थे; इसलिये ग्रीष्म ऋतु में इस प्रकार परिश्रम करने के सम्बन्ध में उन्होंने पहले अनिच्छा प्रकट की। उसके बाद यह भी बात थी कि वर्ष के इस समय में बहुत से छात्र शहर में नहीं रहते थे। किन्तु यह प्रश्न स्वयं ही सुलझ गया। हम लोगों में से एक व्यक्ति का एक छोटा सा मकान सेन्ट लॉरेन्स नदी के बीच के एक बड़े द्वीप 'सहस्रद्वीपोद्यान' (Thousand Island Park) में था। उन्होंने अपना वह छोटा सा घर स्वामीजी के लिये तथा हम लोगों में से जितनों का उसमें स्थान हो सके उतनों के व्यवहार के लिये देने का प्रस्ताव किया। यह व्यवस्था स्वामीजी को जँची, और वे अपने एक मित्र के 'मेन कैम्प' (Main Camp) नामक भवन को छोड़कर हम लोगों के साथ वहाँ जाने को प्रस्तुत हुए।

जो छात्रा घर की मालिक थीं, उनका नाम था मिस डाचार।

उन्होंने सोचा कि इस उपलक्ष्य में एक अलग कक्ष बनवाना आवश्यक है जहाँ पर केवल पवित्र भाव ही विराजित रहे; इसलिये उन्होंने अपने गुरु के प्रति प्रकृत भक्ति-अर्घ्य के रूप में मुख्य मकान के बराबर ही उसीको जोड़कर एक नवीन घर बनवाया। यह मकान एक उच्च भूमि पर अति सुन्दर स्थान में था; वहाँ से सुरम्य नदियों के तथा उस प्रसिद्ध सहस्त्रद्वीपोद्यान के अनेक दृश्य दिखाई देते थे। दूर पर 'क्लेटन' थोड़ा थोड़ा दिखाई देता था, तथा अपेक्षाकृत निकटवर्ती कनाडा का विस्तृत किनारा उत्तर ओर दृष्टिगोचर होता था। यह मकान एक पहाड़ के भाग पर अवस्थित था; पहाड़ का उत्तरीय और पश्चिमीय अंश ढालू होकर नदी की ओर गया था। नदी का एक छोटा सा अंश पहाड़ के नीचे घुस आया था और वह एक छोटे से जलाशय की तरह मकान के पश्चाद्भाग में विद्यमान था। मकान तो सचमुच (बाइबिल की भाषा में) "एक पहाड़ के ऊपर निर्मित था", और बड़े बड़े पत्थर उसके चारों ओर पड़े थे। नवनिर्मित घर पहाड़ के विशेष ढालू अंश पर खड़ा था, और वह एक विशाल प्रकाशस्तम्भ (Light-house) के समान दिखाई देता था। उसके तीनों ओर खिड़कियाँ थीं। घर पीछे की ओर से तीन मंजिल का और आगे की ओर दो मंजिल का था। नीचे के घर में छात्रों में से एक व्यक्ति रहा करते थे। घर के ऊपरी कमरे में जाने के लिए अनेक रास्ते थे, एवं सब से सुन्दर और सुविधाजनक होने के कारण हम लोगों का क्लास वहीं होता था, और वहीं पर स्वामीजी घन्टों बैठकर एक परिचित मित्र के समान हम लोगों को उपदेश देते थे। इसके ऊपर का कमरा केवल स्वामीजी के लिए ही था। वह कमरा पूर्णरूप से एकान्त तथा शान्त

रहे, इस निमित्त मिस् डाचार ने उसमें बाहर की ओर से एक अलग सीढ़ी बनवा दी थी। अवश्य ही एक सीढ़ी उसमें और थी जिसके द्वारा दूसरे मंज़िल के बरामदे में आया जा सकता था।

यह ऊपरी मंज़िल का बरामदा हम लोगों के जीवन के साथ अत्यन्त घनिष्ठ भाव से सम्बद्ध था, क्योंकि स्वामीजी का संध्याकालीन सब वार्तालाप यहीं हुआ करता था। बरामदा बड़ा होने के कारण वहाँ काफी जगह थी। उसके ऊपर में छत थी और वह मकान के दक्षिण और पश्चिम के भाग में विस्तृत थी। मिस् डाचार ने उसके पश्चिम भाग को एक पर्दे द्वारा अलग कर दिया था। इससे यह हुआ कि जो कोई अपरिचित व्यक्ति उस बरामदे में वहाँ के अपूर्व दृश्य देखने के लिए आते थे, वे हम लोगों की निस्तब्धता को भङ्ग नहीं कर पाते थे। यहाँ पर जब तक हम लोग रहे तब तक आचार्यदेव द्वार के समीप बैठकर प्रतिदिन सन्ध्यासमय हम लोगों के साथ वार्तालाप किया करते थे। हम लोग भी सन्ध्या के स्तिमित आलोक में चुपचाप बैठकर उनके अपूर्व ज्ञानगर्भ वचनामृत का सानन्द पान करते थे। स्थान सचमुच एक पुण्य निकेतन था। पर्वत के निम्न भाग में हरे पत्तों से आवृत वृक्षों की चोटियाँ हरितसमुद्र के समान आन्दोलित हो रही थीं। वह समग्र स्थान घने जंगलों से घिरा हुआ था। बड़े गाँव का एक मकान भी वहाँ से दिखाई नहीं देता था। ऐसा मालूम होता था मानो हम लोग लोकालय से अनेक योजन दूर किसी सघन अरण्य में वास कर रहे हैं। वृक्षश्रेणी से दूर विस्तृत सेन्ट लॉरेन्स नदी बहती थी; उसके वक्षःस्थल के बीच बीच में द्वीपसमूह थे। उनके बीच में कुछ कुछ स्थान होटल और भोजनालयों के आलोक में चमक रहे थे। यह

सब दृश्य इतनी दूरी पर था कि वह वास्तविक न मालूम होकर चित्रित-सा मालूम होता था। हम लोगों को इस निर्जन स्थान में जन-कोलाहल भी नहीं सुनाई पड़ता था। हम लोग केवल कीट-पतंगों के अस्फुट रव, विहगों का मधुर कूजन अथवा पत्तों की ओट में खेलने वाली पवन की मृदु मर्मरध्वनि ही सुन पाते थे। दृश्य का कुछ अंश स्निग्ध चन्द्रकिरण के द्वारा उद्भासित हो रहा था एवं निम्नस्थित स्थिर जलराशि के वक्ष में चन्द्र की मुखच्छवि दर्पण के समान प्रतिबिम्बित हो रही थी। इस गन्धर्व-राज्य में हम लोगों ने आचार्यदेव के साथ सात सप्ताह दिव्यानन्द में अतीन्द्रिय राज्य की वार्ता से युक्त उनकी अपूर्व वचनावली श्रवण करते बिताये थे—उस समय हम लोग भी संसार को भूल गये थे, संसार भी हम लोगों को भूल गया था। इस समय हम लोग प्रतिदिन सन्ध्याकालीन भोजन समाप्त कर ऊपर के बरामदे में जाकर आचार्यदेव के आगमन की प्रतीक्षा किया करते थे। अधिक देर तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती थी; क्योंकि हमलोगों के एकत्रित होते ही उनके कमरे के दरवाजे खुल जाते थे और वे धीरे धीरे आकर अपना आसन ग्रहण करते थे। वे हम लोगों के साथ प्रतिदिन दो घंटे तथा कभी कभी उससे भी अधिक समय व्यतीत करते थे। एक दिन अपूर्व सौन्दर्यमयी रजनी में—जब निशानाथ प्रायः अपनी सम्पूर्ण कलाओं से परिपूर्ण थे—बातें करते करते चन्द्रास्त हो गया; हम लोगों को भी समय का बीतना मालूम नहीं पड़ा और स्वामीजी का भी ऐसा ही हाल हुआ।

इन सभी कथोपकथनों को लिपिबद्ध करना संभव नहीं हुआ; वे तो केवल श्रोतृवृन्द के हृदय में ही ग्रथित हैं। इन सभी दिव्य अवसरों

में हम लोगों ने जो अत्युत्कृष्ट गंभीर धर्मानुभूतियों का लाभ किया, उन्हें हम लोगों में से कोई भी भूल न सकेगा। स्वामीजी इन सभी अवसरों पर अपने हृदय के द्वार को उन्मुक्त कर देते थे। धर्मलाभ करने के लिये उन्होंने जिन विघ्न-बाधाओं को पार किया था, वे सब मानो फिर से हमलोगों के नेत्र के सामने आने लगीं। उनके गुरुदेव ही मानो सूक्ष्म शरीर से उनके मुखस्थित हो हम लोगों से बातें करते थे, हम लोगों के सभी संदेह मिटा देते थे, सभी प्रश्नों का उत्तर देते थे एवं समग्र भयों को दूर कर देते थे। बहुधा स्वामीजी मानो हम लोगों की उपस्थिति ही भूल जाते थे; तब हम लोगों के द्वारा कहीं उनके चिन्ता-प्रवाह में बाधा उपस्थित न हो, इस भय से हम लोग मानो श्वासावरोध कर बैठे रहते थे। वे आसन से उठकर बरामदे की संकीर्ण सीमा के भीतर घूमते घूमते लगातार वार्तालाप करने लगते थे। इन सभी अवसरों पर वे ऐसे कोमलप्रकृति थे, एवं सभी के प्रेम को इतना आकृष्ट करते थे कि वैसे वे प्रायः और किसी समय दिखाई नहीं देते थे। उनके गुरुदेव जिस प्रकार अपने शिष्यों को उपदेश देते थे शायद यह बहुत कुछ वैसा ही था — वे स्वयं ही अपनी आत्मा के साथ भाव में लीन हो बातें करते जाते थे और शिष्यगण उन सभी बातों को सुनते रहते थे।

स्वामी विवेकानन्द के सदृश एक व्यक्ति के साथ रहना ही अविरत उच्च से उच्च अनुभूतियों का लाभ करने के समान था। प्रातःकाल से रात्रि पर्यन्त वह एक ही भाव — हम लोग एक घनीभूत धर्मभाव के राज्य में वास करते थे। यद्यपि स्वामीजी बीच बीच में बालक के समान क्रीडाशील और कौतुकप्रिय थे फिर भी उल्लास के साथ

परिहास करने में तथा किसी भी बात का स्पष्ट जवाब देने में अभ्यस्त होते हुए भी कभी क्षण भर के लिए भी वे अपने जीवन के मूलमन्त्र से विच्युत नहीं होते थे। प्रत्येक वस्तु से ही वे कुछ न कुछ कहने का और उदाहरण देने का विषय पा जाते थे। कभी कभी एक क्षण में ही वे हम लोगों को कौतूहलोत्पादक हिन्दू पौराणिक गल्पों से एकदम गंभीर दर्शन के मध्य में ले जाते थे। स्वामीजी पौराणिक गल्पसमूह के अक्षय भण्डार थे और वास्तव में इन प्राचीन आर्यगण के समान और किसी भी जाति में इतनी अधिक मात्रा में पौराणिक गल्प का प्रचलन नहीं है। वे हम लोगों को इन सभी गल्पों को सुनाकर आनंद का अनुभव करते थे और हम लोगों को भी सुनने में अच्छा लगता था; क्योंकि इन सभी गल्पों में जो सत्य निहित है उसे दिखलाने का एवं उसमें से मूल्यवान् धर्मविषयक उपदेशों का आविष्कार करा देने का उन्हें कभी भी विस्मरण नहीं होता था। किसी भाग्यवान् छात्रमण्डली ने इस प्रकार के प्रतिभाशाली आचार्य को प्राप्त कर अपने को धन्य समझने का ऐसा सुयोग प्राप्त किया था या नहीं, इसमें सन्देह है।

एक विलक्षण संयोग से हम लोग ठीक बारह व्यक्तियों, छात्र और छात्राओं, ने 'सहस्रद्वीपोद्यान' को स्वामीजी का अनुगमन किया था और उन्होंने हम लोगों से कहा था कि उन्होंने हमें प्रकृत शिष्यों के रूप में ग्रहण किया है; इसी हेतु वे हम लोगों को दिनरात जी खोलकर उनके पास जो कुछ श्रेष्ठ वस्तु थी, उसकी शिक्षा देते थे। इन बारह व्यक्तियों में सभी एक साथ उपस्थित नहीं होते थे; अधिक से अधिक दस लोग उपस्थित हो पाते थे, इससे अधिक नहीं। हममें से दो व्यक्ति

बाद में 'सहस्रद्वीपोद्यान' में ही संन्यास-दीक्षा ग्रहण कर संन्यासी हुए थे। द्वितीय व्यक्ति के संन्यास के समय स्वामीजी ने हम लोगों में से पाँच व्यक्तियों को ब्रह्मचर्यव्रत में दीक्षित किया था, एवं शेष कुछ व्यक्तियों ने न्यूयार्क नगर में स्वामीजी के वहाँ के अन्य कुछ शिष्यों के साथ दीक्षा ग्रहण की थी।

'सहस्रद्वीपोद्यान' में जाने के समय यह निश्चय हुआ था कि हम लोग सभी व्यक्ति मिल जुलकर एकत्र ही वास करेंगे, प्रत्येक व्यक्ति गृहकार्य का अपना अपना भाग संभाल लेगा, इससे यह होगा कि किसी बुरे व्यक्ति के संस्पर्श से हमारे घर की शान्ति में बाधा नहीं पड़ेगी। स्वामीजी स्वयं रसोई बनाने में प्रवीण थे, वे हम लोगों के लिए उपादेय व्यञ्जनं आदि स्वयं तैयार करते थे। वे अपने गुरुदेव के देहान्त के बाद जब अपने गुरुभाइयों की सेवा करते थे, उसी समय उन्होंने रसोई बनाना सीखा था। इन सब गुरुभाइयों को उन्होंने संघबद्ध कर रखा था तथा उस शिक्षा को जारी रखा था जिसका बीजारोपण उनके गुरुदेव ने किया था। इसका उद्देश्य यही था कि ये सब गुरुभाई इस योग्य हो जायँ कि वे भगवान् श्रीरामकृष्ण देव द्वारा प्रचारित सत्य-समूहों को संसार में प्रसारित कर सकें।

प्रतिदिन प्रात:काल आवश्यक कार्यों से निवृत्त होने पर और कभी कभी उसके पहले भी स्वामीजी उस बड़े बैठकखाने में हमें एकत्रित करते थे जहाँ हमारा क्लास लगता था। इस प्रकार एकत्रित होने पर वे शिक्षा देना प्रारम्भ करते थे। स्वामीजी प्रतिदिन किसी एक विशिष्ट विषय को चुनकर उसके सम्बन्ध में उपदेश देते थे, अथवा श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद् या व्यासकृत वेदान्तसूत्र आदि किसी

भी धर्मग्रन्थ को लेकर उसकी व्याख्या करते थे। वेदान्तसूत्र में वेदान्त के सब महासत्य यथासम्भव सूत्रों के रूप में निबद्ध हैं। उन सूत्रों में कर्ता, क्रिया कुछ भी नहीं हैं। इतना ही नहीं, इन सूत्रों के रचयिता अपने सूत्रों में अनावश्यक पदों को निकाल देने में इतने आग्रहशील थे कि हिन्दुओं में एक कहावत है कि सूत्रकार अपने पुत्रों में से एक पुत्र को त्याग देने के लिये प्रस्तुत हो सकता था, किन्तु अपने सूत्र में एक भी अतिरिक्त अक्षर रखने को वह तैयार नहीं था।

वेदान्तसूत्र अत्यन्त स्वल्पाक्षर होने के कारण वे पहेली के समान हैं। इसलिए भाष्यकारों को माथापच्ची करने का यथेष्ट अवकाश रहता है, एवं शंकर, रामानुज और मध्व, इन तीन महान् हिन्दू दार्शनिकों ने उनके ऊपर विस्तृत भाष्य लिखे हैं। प्रात:कालिक कथोपकथन में स्वामीजी इन भाष्यों में से पहले कोई भी एक भाष्य लेकर, तत्पश्चात् किसी दूसरे भाष्य को लेकर उनकी व्याख्या करते थे और यह दिखलाते थे कि अपने ही मतानुसार सूत्रों का गलत अर्थ करने के कारण प्रत्येक भाष्यकार किस प्रकार अपराधी है; वे यह भी दर्शाते थे कि ये भाष्यकार किस प्रकार स्वयं की व्याख्या का समर्थन करने के उद्देश्य से अपने ही अर्थ को नि:संकोच भाव से इन सूत्रों में घुसेड़ देते थे। बलपूर्वक मूल का विकृत अर्थ करने की परिपाटी कितनी पुरानी है, यह बात स्वामीजी प्राय: हम लोगों को दिखला दिया करते थे।

इन कथोपकथनों में किसी दिन मध्ववर्णित शुद्ध-द्वैतवाद की और किसी दिन रामानुज-प्रचारित विशिष्टाद्वैतवाद की व्याख्या होती थी। किन्तु शंकर के अद्वैतवाद की ही सर्वापेक्षा अधिक व्याख्या होती थी। परन्तु शंकर के अद्वैतवाद में अत्यन्त सूक्ष्म विचार होने के कारण वह

सहज बोधगम्य नहीं था, अतएव अन्त में रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद ही छात्रों के लिए अधिक प्रभावशाली ठहरा।

कभी कभी स्वामीजी नारदीय भक्तिसूत्र लेकर उसकी व्याख्या करते थे। इन सूत्रों में ईश्वरभक्ति की संक्षिप्त आलोचना है, एवं उसे पढ़ने से यह तथ्य समझ में आता है कि हिन्दुओं का प्रकृत, सर्वग्रामी आदर्श ईश्वरप्रेम कैसा है और वह प्रेम किस प्रकार साधकों के हृदय से दूसरी चिन्ताओं को सचमुच दूर कर उसके भीतर ओतप्रोत होकर रहता है। हिन्दुओं के मत में भक्ति ईश्वर के साथ तादात्म्यभाव लाभ करने का एक सर्वोत्कृष्ट उपाय है; यह उपाय भक्तगणों के लिए स्वभावतः ही रुचिकर है। ईश्वर के प्रति — और केवल उन्हीं के प्रति प्रेम का नाम भक्ति है।

इन कथोपकथनों में ही सर्वप्रथम स्वामीजी ने हम लोगों के समीप अपने महान् आचार्य श्रीरामकृष्ण देव की कथाओं का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया, — किस प्रकार स्वामीजी उनके साथ दिन पर दिन बिताते गये, और किस प्रकार उन्हें स्वयं के तथाकथित नास्तिक मताग्रह का दमन करने के लिए कठोर चेष्टा करनी पड़ी थी। वे यह भी बतलाते थे कि उनकी वह नास्तिकता किस प्रकार समय समय पर उनके गुरुदेव को दुःखी बनाकर उन्हें रुला तक देती थी। श्रीरामकृष्ण देव के अन्य शिष्यगण यह कहा करते थे कि वे (श्रीरामकृष्ण देव) उन लोगों से प्रायः कहते थे कि स्वामीजी (विवेकानन्दजी) एक मुक्त महापुरुष हैं, वे उनके कार्य में विशेष रूप से सहायता देने के लिए आये है, एवं उन्हें जब यह ज्ञात हो जायगा कि वे कौन है, तब वे शरीर छोड़ देंगे। श्रीरामकृष्ण देव यह भी कहते थे कि उक्त समय उपस्थित

होने के पूर्व स्वामीजी को केवल भारत के लिए ही नहीं वरन् अन्य देशों के लिए भी कोई एक विशेष कल्याणकारी कार्य करना होगा। वे प्राय: कहा करते थे — "बहुत दूरी पर रहनेवाले मेरे और भी अनेक शिष्य हैं; वे सब ऐसी भाषा में बोलते हैं जिसे मैं समझ नहीं पाता।"

'सहस्रद्वीपोद्यान' में सात सप्ताह बिताकर स्वामीजी न्यूयार्क लौटे और बाद में अन्यत्र भ्रमण करने के लिए चले गये। नवम्बर के अन्त तक वे इङ्गलैण्ड में वक्तृतायें देते रहे तथा छात्रों को लेकर क्लास चलाने लगे। तदनन्तर न्यूयार्क लौट आये, और वहाँ पुन: क्लास आरम्भ किया। इस समय उनके छात्रों ने एक उपयुक्त सांकेतिक लेखक (stenographer) को नियुक्त किया और इस उपाय से स्वामीजी की उक्तियों को लिपिबद्ध कराकर रख लिया। इस क्लास की वक्तृतायें कुछ दिनों के बाद पुस्तकाकार में प्रकाशित हुईं। ये पुस्तकें तथा जनसाधारण के समक्ष दी हुई वे वक्तृतायें, जो कि पुस्तिकाकार में निबद्ध हैं, आज भी अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द के प्रचार-कार्य के स्थायी स्मृति-चिह्न के रूप में वर्तमान हैं। हम लोगों में से जिन्हें इन वक्तृताओं में उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उन्हें ऐसा मालूम होता है कि मानो स्वामीजी इन मुद्रित पृष्ठों में विद्यमान हैं और हमारे साथ वार्तालाप कर रहे हैं। उनकी वक्तृताओं को इस प्रकार ठीक ठीक लिपिबद्ध करने का श्रेय उन एक व्यक्ति को है जो बाद में स्वामीजी के एक महान् अनुरागी भक्त हुए। गुरु और शिष्य दोनों का ही कार्य निष्काम प्रेमप्रसूत था, अतएव इस कार्य के ऊपर ईश्वर का सतत आशीर्वाद था।

न्यूयार्क, १९०८ एम. इ. वाल्डो

२. आचार्यदेव

१८९४ ईसवी की १४ फरवरी मेरे स्मृति-पट पर अन्य दिनों की अपेक्षा विशेष पवित्र दिवस के रूप में विद्यमान है; क्योंकि इसी दिन मैंने सर्वप्रथम उन महापुरुष एवं धर्मजगत् के महावीर स्वामी विवेकानन्द की मूर्ति का दर्शन और उनके कण्ठ-स्वर का श्रवण किया था, जिन्होंने दो वर्ष बाद मुझे अपने शिष्यों के बीच स्थान देकर अपार आनन्द और विस्मय से अभिभूत कर दिया था। वे इस देश के (अमेरिका के) बड़े बड़े नगरों में व्याख्यान देते हुए भ्रमण कर रहे थे। इसी सिलसिले में डिट्रियेट के युनिटेरियन चर्च में उनकी जो व्याख्यानमाला हुई थी, उसमें से उनका प्रथम व्याख्यान उक्त दिवस हुआ था। जनता की उपस्थिति इतनी अधिक संख्या में हुई कि उस बड़े भारी प्रासाद में सचमुच तिल रखने को भी स्थान न था। स्वामीजी वहाँ पर राजसन्मान से सम्मानित हुए। जब उन्होंने व्याख्यान-मञ्च पर पदार्पण किया, उस समय की उनकी वह राजश्रीमण्डित महामहिममय मूर्ति मानो अभी भी मेरी आँखों के सामने प्रत्यक्ष दीख रही है। वह मानो असीम शक्ति का आधार है और क्षणमात्र में ही सब पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेती है। उनका वह अपूर्व

कण्ठनिःसृत प्रथम शब्द — जो शब्द नहीं, मानो संगीत है — उच्चारित होते ही वीणा के समान करुण रागिणी में बज रहा है और वही फिर गम्भीर, शब्दमय, आवेगमय होकर झंकार दे रहा है। समस्त सभा निस्तब्ध हो गई। वह निस्तब्धता स्पष्ट अनुभूत होने लगी, एवं वह विशाल जनसंघ अत्यंत उत्सुक हो उनका भाषण तन्मयता के साथ सुनने लगा।

स्वामीजी ने वहाँ पर पाँच व्याख्यान दिये। वे श्रोतृवर्ग को मन्त्रमुग्ध कर रखते थे, क्योंकि वक्तव्य विषय के ऊपर उनका अधिकार असाधारण था, और वे इस प्रकार व्याख्यान देते थे, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता था कि वे सत्यद्रष्टा हैं। उनकी दी हुई युक्तियाँ कभी भी न्यायविरुद्ध नहीं होती थीं, प्रत्युत उनके कहे हुए सिद्धान्तों की सत्यता के ऊपर वे दृढ़ विश्वास उत्पन्न करातीं थीं। और भाववश होने पर भी जिस सत्य को लोगों के मन में दृढ़ रूप से अंकित करने का वे प्रयास करते थे, उसका उन्हें अपनी धाराप्रवाह वक्तृता में भी कभी विस्मरण नहीं होता था।

अपने अननुमोदित धर्म या दर्शन के सिद्धान्तों का वे निर्भीकतापूर्वक प्रतिवाद करते थे, किन्तु व्यक्तिगत विषय में लोग स्वयं समझ जाते थे कि इनका हृदय इतना विशाल है कि वे लोगों के दोष और दुर्बलताओं की ओर बिना देखे सम्पूर्ण जगत् को अपनी छाती से लगा सकते हैं; वे लोगों के अत्याचार सहन करने तथा उन्हें क्षमा करने में कभी भी पराङ्मुख न होंगे। बाद में उनके साथ घनिष्ठता लाभ का सुयोग प्राप्त होने पर मैंने देखा कि सचमुच उनकी क्षमाशीलता की तुलना नहीं है। अहा! कैसे अपरिसीम प्रेम तथा धैर्य के साथ वे अपने पास

आनेवाले लोगों को उनकी अपनी अपनी दुर्बलताओं के गोरखधन्धे से बाहर निकालकर और उनके 'कच्चे मैं-पन' अर्थात् उनके अहंकार की सीमाओं को नष्ट कर ईश्वरप्राप्ति का मार्ग बतला देते थे! वे 'ईर्ष्या' नाम की किसी वस्तु को जानते ही न थे। यदि कोई उन्हें गाली देता, तो वे गंभीर हो जाते थे, और 'शिव शिव' कहते कहते उनका मुख उद्भासित हो उठता था, और वे कहने लगते थे, "यह भी तो प्रियतम प्रभु की ही वाणी है!" अथवा हम लोगों में से जो उनसे प्रेम रखते थे, वे यदि इस व्यापार में क्रुद्ध हो जाते तो वे उनसे पूछते थे, "जो निन्दा-स्तुति का कर्ता और पात्र दोनों को एक ही समझता है, उनके निकट इन सब बातों का क्या मूल्य है?" फिर ऐसे सभी स्थलों में वे, श्रीरामकृष्ण किस प्रकार किसी के गाली देने या कटुवचन कहने पर उनकी ओर ध्यान तक न देते थे, इसके सम्बन्ध में कोई कथा सुनाते थे। वे समझाते थे कि भले बुरे सभी पदार्थ, सभी द्वन्द्व "आदरिणी श्यामा माँ" के निकट से ही आते हैं।

कई वर्षों तक उनके साथ घनिष्ठतापूर्वक रहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है, पर एक दिन के लिए भी मैंने उनके चरित्र में थोड़ा सा भी मालिन्य नहीं देखा। मनुष्यों की क्षुद्र दुर्बलतायें उनमें स्थान नहीं पाती थीं; और यदि विवेकानन्दजी का मानो कोई दोष था, तो वह निश्चय ही उनके उदार भाव का दोष था। इतने बड़े होकर भी वे बालक के समान सरल थे; धनी और प्रतिष्ठित लोगों के साथ वे जिस प्रकार मिलते थे, उसी प्रकार वे निर्धन एवं पतित व्यक्ति के साथ भी जी खोलकर हृदय से मिलते थे।

डिट्रियेट में रहने के समय उन्होंने मिशिगन के भूतपूर्व शासनकर्ता

की विधवा पत्नी मिसेस् जॉन्. जे. बैगली का आतिथ्य ग्रहण किया था। इनके सदृश उच्चशिक्षिता महिला विरली थीं। इनका धर्मभाव भी असाधारण था। इन्होंने मुझसे कहा था कि स्वामीजी जितने दिन तक (प्रायः एक मास तक) उनके घर में अतिथि थे, उस बीच में उन्होंने स्वामीजी की वाणी और कार्य में उच्चतम भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाया, और उनके रहने के समय घर मानो "अविरत मंगल प्रवाह से पूर्ण" रहा। मिसेस् बैगली के यहाँ से आने के पश्चात् स्वामीजी ऑनरेवल् टामस डब्ल्यू. पामार के अतिथि होकर एक पक्ष तक रहे। मि. पामार जागतिक महामेला सम्मेलन (World's Fair Commission) के अध्यक्ष थे; इससे पहले वे स्पेन में संयुक्तराज्य के राजदूत रह चुके थे एवं संयुक्तराज्य की महासभा के एक सदस्य भी थे। ये सज्जन अभी भी जीवित हैं और इनकी आयु इस समय अस्सी वर्ष के ऊपर है।

मैं अपनी अभिज्ञता के अनुसार कह सकती हूँ कि मेरा जो स्वामीजी के साथ कई वर्ष तक परिचय रहा उस बीच में मैंने उन्हें कभी भी आदर्श और कार्य में, उच्चतम भाव के अतिरिक्त और कुछ भी प्रकाशित करते हुए नहीं पाया।

स्वामीजी न जाने कितने लोगों के प्रेम को आकृष्ट कर चुके थे! मनुष्य उनके समान पवित्र और निष्कलङ्क हो सकता है, इस बात की मैं धारणा तक नहीं कर पाती हूँ! इसी कारण वे अन्य सभी मनुष्यों से एकदम निराले परखे जा सकते थे। वे हमारे देश की श्रेष्ठ, रूपलावण्य-सम्पन्न महिलाओं के संपर्क में आये थे, किन्तु सौन्दर्य उन्हें कभी किञ्चित् भी आकर्षित न कर सका। वे प्रायः कहा करते थे—

"मैं तुम लोगों जैसी तीक्ष्ण बुद्धिसम्पन्न विदुषियों के साथ तर्कयुद्ध करना चाहता हूँ, यह मेरे लिए एक नवीन बात है; क्योंकि मेरे देश की स्त्रियाँ अधिकांश अन्त:पुर में ही रहती हैं।"

उनका आचरण बालकसुलभ सरलतापूर्ण था। वह लोगों को अतिशय मुग्ध करता था। मुझे याद है, एक दिन अद्वैतानुभूति की पराकाष्ठा का वर्णन करके उन्होंने एक अत्यन्त चित्ताकर्षक वक्तृता दी. दूसरे ही क्षण में मैंने देखा कि वे सीढ़ी के नीचे खड़े हैं। उनका मुख देखकर ज्ञात हुआ कि वे मानो किसी बात का निर्णय करना चाहते हैं, परन्तु वैसा कर नहीं पा रहे हैं, इसलिए चिन्तित हैं। लोग ऊपर नीचे आ-जा रहे हैं—कोई कुछ वस्त्र लाने के लिए, कोई और किसी काम के लिए। एकाएक उनका श्रीमुख उत्फुल्ल हो उठा। वे बोल उठे—"समझ गया! ऊपर जाने के समय पुरुष स्त्रियों से पहले जायँ, और नीचे उतरने के समय स्त्रियाँ पुरुषों से पहले उतरें। ठीक है न?" अपनी प्राच्य शिक्षा-दीक्षा के फलस्वरूप उन्होंने अनुभव किया कि आचार-मर्यादा का उल्लंघन वैसा ही है मानो आतिथ्य का नियमभंग।

जो लोग उनके जीवन के संकल्पित कार्यों में योग देने के इच्छुक थे, उन लोगों की बातें चलने पर उन्होंने मुझसे कहा कि उन्हें शुद्धसत्त्व होना अत्यन्त आवश्यक है। एक शिष्या के प्रति उन्हें बहुत आशा थी। उनमें उन्होंने संभवत: भावी त्याग एवं वैराग्य का विशिष्ट परिचय निश्चय ही पाया होगा। एक दिन उन्होंने मुझे अलग पाकर उनके सम्बन्ध में इस विषय पर अनेक प्रश्न किए कि वे किस प्रकार जीवन यापन करती हैं, कैसे लोगों से मिलती जुलती हैं आदि आदि। एवं मैंने उन सभी प्रश्नों का उत्तर दिया। बाद में वे अति आग्रहयुक्त

भाव से मेरी ओर देखकर पूछने लगे — "वे खूब शुद्धसत्त्व हैं न ?" मैंने कहा — "हाँ, स्वामीजी ! पूर्ण शुद्धसत्त्व हैं।" उनका मुखमण्डल प्रदीप्त हो उठा, उनके नेत्रों से दिव्यज्योति निकलने लगी, वे उत्साह-पूर्वक बोले — "मैं यह जानता था, मैंने इसे भीतर से ही समझ लिया था। मैं अपने कलकत्ते के कार्य के लिए उन्हें चाहता हूँ।" उसके बाद उन्होंने भारतीय नारियों की उन्नति के लिए स्वसंकल्पित कार्यप्रणाली की बात एवं इस विषय में उन्होंने जिन सभी आशाओं को परिपुष्ट कर रखा था, उन सभों की चर्चा की। वे बीच बीच में कहते थे — "उन लोगों को चाहिये शिक्षा; हमें कलकत्ते में एक विद्यालय स्थापित करना होगा।" बाद में वहाँ पर एक बालिका-विद्यालय सिस्टर निवेदिता द्वारा स्थापित हुआ और उक्त शिष्या ने भी उनके साथ उक्त कार्य में योग दिया। वे कलकत्ते की एक गली में रहती हैं, साड़ी पहनती हैं एवं माता के समान लड़कियों की सेवा और देखभाल यथासाध्य करती हैं। स्वामीजी के साथ जब मेरा प्रथम परिचय हुआ था तब वे मेरी संगिनी थीं, क्योंकि हम दोनों ने एक साथ आचार्यदेव को खोज निकाला था, और उनसे अनुरोध किया था कि वे हम लोगों को शिक्षा दें। उसी शीतकाल में उन्होंने डिट्रॉयेट के सभी लोगों के मन को आकृष्ट कर लिया था। शिक्षितों के ऊपर उनका खूब ही प्रभाव पड़ा था तथा उनसे बातें करने के लिए लोग सदैव अवसर की चेष्टा में रहते थे। दैनिक संवादपत्र उनकी गति-विधि का समाचार प्रकाशित करने लगे। एक संवादपत्र ने गंभीर भाव से लिखा कि खूब अधिक मिर्च की बुकनी के साथ रोटी और मक्खन ही उनका प्रातराश (Break-fast) है! ढेर की ढेर चिट्ठियाँ और निमन्त्रणपत्र

आने लगे एवं डिट्रियेट विवेकानन्दजी के चरणों में नतमस्तक हो गया।

डिट्रियेट उनको सदा प्रिय रहा, और वे अपने प्रति किये गये इन समस्त सदय व्यवहारों के लिए सदैव कृतज्ञ थे। हम लोगों का उस समय उनके साथ घनिष्ठ भाव से मिलने का कोई सुयोग नहीं था, किन्तु हम लोगों ने उनकी जो कुछ बातें सुनीं, उनका चिन्तन हम मन ही मन करने लगीं। हमारा यह दृढ़ निश्चय था कि किसी समय, कहीं न कहीं उन्हें ढूँढ़ निकालेंगी ही; उसके लिए यदि हमें सम्पूर्ण पृथ्वी का भी पर्यटन करना पड़े तो वह भी स्वीकार है। लगभग दो वर्ष तक हम लोगों को उनका कोई पता नहीं मिला, मन में सोचा, शायद वे भारत लौट गये होंगे। किन्तु एक दिन अपराह्नकाल में एक मित्र ने हम लोगों को संवाद दिया कि वे अभी इसी देश में हैं और ग्रीष्मकाल तक 'सहस्रद्वीपोद्यान' में रहेंगे। यह दृढ़ संकल्प कर कि हम उन्हें खोजकर उनसे शिक्षा ग्रहण करेंगी ही, हम दूसरे दिन प्रातःकाल उन्हें ढूँढ़ने के लिए निकलीं।

अन्त में बहुत खोज करने के बाद हम लोगों ने उनका पता पाया। यह सोचकर कि वे जनकोलाहल से दूर आकर, यहाँ पर निवास कर रहे हैं और ऐसी परिस्थिति में हम लोग यहाँ आकर उनकी शान्ति भङ्ग करने का दुःसाहस कर रही हैं, हम विशेष भयभीत हुईं; किन्तु उन्होंने हम लोगों के हृदय में इस प्रकार एक अग्नि प्रज्वलित कर दी है जो कभी बुझनेवाली नहीं। इन अद्भुत व्यक्ति और इनके उपदेश के सम्बन्ध में हमें और भी ज्ञान प्राप्त करना होगा। उस दिन अन्धकारमयी रजनी थी, रिमझिम वृष्टि हो रही थी, और हम लोग भी लम्बे पथभ्रमण से थक गई थीं, किन्तु उनका दर्शन किए बिना हम लोगों

के मन में शान्ति कहां! वे क्या हम लोगों को शिष्यरूप में ग्रहण करेंगे? और यदि नहीं तो हम लोगों का क्या होगा? हठात् हम लोगों के मन में यह कल्पना आई कि एक व्यक्ति जो हम लोगों के अस्तित्व को भी नहीं जानते, उन्हें देखने के लिए सैकड़ों कोस चलकर आना, सम्भव है, मूर्खता का ही कार्य हुआ हो। किन्तु उस अन्धकार और वृष्टि के बीच हम लोगों ने किसी भी तरह पहाड़ पर चढ़ना प्रारम्भ कर दिया; हमने कुछ पैसे देकर साथ में एक मनुष्य को ले लिया जो लालटेन की सहायता से हमें रास्ता दिखा रहा था। बाद में इस घटना-प्रसङ्ग में आचार्यदेव हम लोगों के बारे में कहा करते थे—"मेरी दो शिष्यायें सैकड़ों कोस रास्ता पारकर मुझसे मिलने आई थीं, और उनका आगमन रात में मूसलाधार वर्षा हो रही थी तब हुआ।" हम लोगों ने पहले से ही सोच रखा था कि हम उनसे क्या कहेंगी, किन्तु जब हम लोगों का उनसे साक्षात्कार हुआ तब हम लोग अपनी सब छन्दोबद्ध वक्तृताएँ भूल गईं और हममें से एक ने किसी तरह अस्फुट स्वर में कहना प्रारम्भ किया—"हम लोग डिट्रियेट से आई हैं, और मिसेस् प—ने हम लोगों को आपके पास भेजा है।" फिर दूसरी ने कहा—"भगवान् ईसा यदि अभी पृथ्वी पर विद्यमान होते, तो उनके पास हम लोग जैसे जातीं एवं उपदेश की भिक्षा माँगतीं, उसी प्रकार हम लोग आपके निकट आई हैं।" वे हमारी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखते हुए बोले, "हाँ, काश, मुझमें भगवान् ईसा के समान तुम लोगों को इसी क्षण मुक्त कर देने की क्षमता होती!" क्षण भर के लिये वे चिन्तामग्न भाव से खड़े रहे और बाद में गृहस्वामिनी से, जो पास ही खड़ी थीं, बोले—"ये

दोनों महिलायें डिट्रियेट से आई हैं, इन्हें ऊपर ले जाओ, ये आज की संध्या हम लोगों के साथ बितायेंगी।" हम लोग बड़ी रात तक आचार्यदेव की बातें सुनती रहीं। उन्होंने हम लोगों के प्रति और कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया, किन्तु हम लोगों के बिदा होते समय उन्होंने दूसरे दिन नौ बजे आने को कहा। हम लोग बिना किसी विलम्ब के निर्दिष्ट समय पर उपस्थित हुईं और आचार्यदेव ने भी हम लोगों पर कृपा कर हमें वहाँ स्थायी रूप से रहने के लिये आमंत्रित किया। तब तो हम लोगों के आनन्द की सीमा न रही।

हम लोगों के वहाँ के अवस्थान के सम्बन्ध में और एक शिष्या ने विस्तृत भाव से लिखा है। मैं तो केवल इतना ही कहूँगी कि वह ग्रीष्म ऋतु तो निरवच्छिन्न आनन्द में ही कटी थी। इस समय वे जैसे थे, उस प्रकार उन्हें और कभी नहीं देखा। यहाँ पर सभी उनके प्रति प्रेम रखते थे, इसलिये उनके चरित्र का माधुर्य भी अति सुन्दर भाव से विकसित हुआ था।

हम लोग वहाँ बारह व्यक्ति थे, और ऐसा प्रतीत होता था, मानो ज्वालामयी ऐशी शक्ति ने (Pentecostal fire) अवतरित होकर अतीतकाल में जैसे ईसा के शिष्यों को स्पर्श किया था उसी प्रकार आचार्यदेव को भी किया है। एक दिन अपराह्न काल में त्यागमाहात्म्य-प्रसङ्ग में गैरिक-वस्त्रधारी यतिगणों के आनन्द और स्वाधीनता का वर्णन करते करते वे एकदम उठ गये, एवं तुरन्त ही त्याग-वैराग्य की चरमसीमास्वरूप "Song of the Sannyasin" (संन्यासी का गीत) शीर्षक कविता उन्होंने लिख डाली। मुझे मालूम होता है, उनके असीम धैर्य और कोमलता ने ही मुझे

सर्वापेक्षा मुग्ध किया था। पिता अपनी संतान को जिस दृष्टि से देखती है, वे भी हम लोगों को उसी दृष्टि से देखते थे — यद्यपि हम लोगों में से अधिकांश व्यक्ति उनकी अपेक्षा अधिक उम्रवाले थे। प्रात:कालीन क्लास के कथोपकथन को सुनकर समय समय पर हम लोगों को प्रतीत होता था, मानो उन्होंने ब्रह्म को करामलकवत् प्रत्यक्ष कर लिया है; उस समय प्राय: वे कक्षा छोड़कर चले जाते, एवं थोड़ी देर बाद लौटकर आते और कहते — "अब मै तुम लोगों के लिये भोजन बनाने जाता हूँ।" और कितने धैर्य के साथ आग के पास खड़े होकर वे हम लोगों के लिये कुछ न कुछ भारतीय भोजन प्रस्तुत करते! डिट्रियेट में हम लोगों के साथ जब वे अन्तिम बार रहे थे उस समय उन्होंने एक दिन हम लोगों के लिये बड़ा स्वादिष्ट व्यञ्जन तैयार किया था। प्रतिभाशाली, पण्डिताग्रगण्य जगद्विख्यात विवेकानन्दजी अपने शिष्यगणों के छोटे छोटे अभावों की भी अपने हाथ से पूर्ति कर रहे हैं — शिष्यों के लिये कैसा अपूर्व उदाहरण है! वे उस समय सर्वदा कितने कोमल, कितने करुण-स्वभाव होते थे! न जाने कितनी कोमलतामयी पुण्यस्मृतियों को वे हम लोगों को उत्तराधिकार के रूप में अर्पण कर गये है!

एक दिन स्वामीजी ने हम लोगों को एक कहानी सुनाई — उस कहानी ने उनके जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव डाला था। शैशव-काल में उन्होंने दाई के मुख से इस कहानी को बार बार सुना था, और बारंबार सुनकर भी उस कहानी से उनका जी नहीं भरा था। जहाँ तक संभव है, उन्हींकी भाषा में मैं उसे यहाँ पर प्रस्तुत कर रही हूँ:—

"एक विधवा ब्राह्मणी की एक मात्र संतान थी। ब्राह्मणी निर्धन

थी और पुत्र अति अल्पवयस्क था; उसे शिशु ही कह सकते हैं। ब्राह्मण की संतान थी, इसलिये उसे लिखना-पढ़ना सीखना ही था। किन्तु वह किस प्रकार हो सके? वह ब्राह्मणी जिस गाँव में रहती थी, वहाँ कोई शिक्षक न था, इसलिये बालक को पढ़ने के लिये निकटवर्ती ग्राम में जाना पड़ता था। उसकी माता अत्यन्त गरीब थी, इसलिये उसे पैदल ही जाना पड़ता था। दोनों गाँवों के बीच में एक छोटा सा जंगल था, बालक को उसी जंगल में से जाना पड़ता था। सभी उष्णप्रधान देशों के समान भारत में भी प्रातःकाल तड़के और फिर सायंकाल के पूर्ववर्ती समय में शिक्षा दी जाती है। दिन में गर्मी की अधिकता के कारण कोई काम नहीं होता। इसलिये बालक को पाठशाला जाते समय और वहाँ से घर लौटते समय प्रतिदिन थोड़ा अंधेरा रहता था। हम लोगों के देश में जिसके पास धन नहीं होता, उसे निःशुल्क धर्म-शिक्षा दी जाती है, इसलिये इस बालक को बिना कुछ व्यय किये ही इन गुरुजी के पास पढ़ने की सुविधा थी, किन्तु उसको जंगल में से होकर जाना पड़ता था और साथ में किसीके न होने के कारण उसे बहुत डर लगता था। एक दिन वह बालक अपनी माता से बोला—"मुझे प्रतिदिन इस भयंकर जंगल में से जाना पड़ता है, मैं डर जाता हूँ। दूसरे लड़कों के साथ नौकर जाते हैं, वे उनकी देख-भाल करते हैं, क्या मेरे साथ जाने के लिये कोई नौकर नहीं हो सकता?" माता ने उत्तर दिया—"बेटा, दुःख की बातें क्या बताऊँ, मैं तो बड़ी गरीब हूँ, मुझमें इतनी शक्ति कहाँ जो तेरे साथ नौकर भेजूँ।" लड़के ने कहा, "ऐसी बात है तो मैं कैसे पढ़ने जाऊँ?" माता बोली—"एक काम कर—इस जंगल में तेरे राखालदादा कृष्ण

रहते हैं भारतवर्ष में श्रीकृष्ण का एक नाम 'राखालराज' भी है), तू उनको पुकारना, वे आकर तेरी देखरेख करेंगे, फिर तू भी अकेला नहीं रहेगा।" बालक दूसरे दिन जंगल में प्रवेश करते ही ज़ोर से पुकारने लगा—"राखालदादा, राखालदादा, तुम यहाँ हो क्या?" लड़के ने सुना मानो कोई कह रहा है—"हाँ, मैं हूँ।" बालक को सान्त्वना मिली और उसने सदा के लिये भय छोड़ दिया। क्रमशः वह देखने लगा कि उसके समान एक बालक जंगल से निकलकर उसके साथ खेला करता है और उसके साथ साथ चलता है। लड़के के मन में फिर दुःख नहीं हुआ। कुछ दिन के बाद गुरुजी के पिता स्वर्गवासी हुए, एवं भारतीय प्रथा के अनुसार उस उपलक्ष्य में एक बृहत् अनुष्ठान हुआ। ऐसे समय में सभी छात्रों को गुरुजी को कुछ न कुछ उपहार देना होता है। निदान वह बालक भी अपनी माँ के पास जाकर बोला—"माँ, दूसरे लड़कों के समान मैं भी गुरुजी को कुछ उपहार दूँगा, मुझे कुछ खरीद दो।" माँ ने कहा—"मैं तो बड़ी गरीब हूँ।" पर लड़का रोते रोते बोला—"फिर क्या उपाय है?" माँ ने कहा—"राखालदादा के पास जाकर उनसे कुछ माँग ले।" यह सुनकर बालक वन में जाकर पुकारने लगा—"राखालदादा, गुरुजी को उपहार देने के लिये क्या मुझे कुछ दोगे?" उसी समय उसके सामने दूध का एक बर्तन आगया। बालक ने कृतज्ञतापूर्ण हृदय से बर्तन उठाया और गुरुजी के घर में जाकर एक कोने में खड़ा हो प्रतीक्षा करने लगा कि नौकर लोग कब उसका उपहार गुरुजी के समीप ले जायँ। किन्तु दूसरों के उपहार इतने अधिक और सुन्दर थे कि नौकरों ने उस बालक की ओर ध्यान तक न दिया। अन्त में उसने स्वयं ही कहा—"गुरुजी, यह मैं

आपके लिये उपहार लाया हूँ।" गुरुजी ने मुँह घुमाकर देखा। उन्हें प्रतीत हुआ कि उपहार अत्यन्त सामान्य तथा सामग्री अत्यन्त नगण्य है। फिर अवज्ञाभाव से उन्होंने नौकर से कहा — "यह जब इसी को लेकर इतना हल्ला मचा रहा है तो दूध को एक पात्र में उड़ेलकर इसे विदा कर दो।" नौकर ने उसके हाथ से बर्तन ले लिया और एक कटोरे में दूध उड़ेला, किन्तु उस बर्तन का दूध खतम होते होते ही फिर भर गया; वह फिर उसे खाली करने लगा, पर अन्त में वह उसे खाली ही न कर सका! तब सभी ने विस्मित होकर उससे पूछा — "यह क्या हो रहा है? इस बर्तन को तूने कहाँ पाया?" लड़के ने उत्तर दिया — "राखालदादा ने मुझे वन में यह बर्तन दिया।" वे सब बोल उठे — "क्या कहता है! तूने श्रीकृष्ण को देखा है और उन्होंने तुझे यह बर्तन दिया है?" बालक ने कहा — "हाँ, और वे मेरे साथ प्रतिदिन खेलते भी हैं और जब मैं पाठशाला आता हूँ तो वे मेरे साथ साथ आते हैं।" सभी विस्मित होकर बोले — "क्या कहता है! तू श्रीकृष्ण के साथ घूमता है, श्रीकृष्ण के साथ खेलता है?" फिर तो गुरुजी ने भी कहा — "तू हम लोगों को साथ ले जाकर उन्हें दिखला सकता है?" लड़के ने कहा — "हाँ, दिखला सकता हूँ। आप मेरे साथ चलिए।" निदान लड़का और गुरुजी दोनों वन में प्रविष्ट हुए और बालक प्रतिदिन के समान पुकारने लगा — "राखाल-दादा, ये मेरे गुरुजी आये हैं, तुम कहाँ हो?" किन्तु कोई उत्तर न मिला। बालक बारंबार पुकारने लगा, किन्तु कोई उत्तर नहीं। तब वह रोते रोते बोला — "राखालदादा, एक बार आओ, नहीं तो सभी मुझे मिथ्यावादी कहेंगे।" तब सुना गया मानो कोई बहुत दूर

से कह रहा हो—"मैं तेरे पास आता हूँ, क्योंकि तू शुद्धसत्त्व है और तेरा समय हुआ है, किन्तु तेरे गुरुजी को अब भी मेरे दर्शन के लिये अनेक जन्म ग्रहण करने होंगे।"

'सहस्रद्वीपोद्यान' में ग्रीष्मकाल बिताकर विवेकानन्दजी ने इङ्गलैण्ड की ओर यात्रा की और आगामी वसन्त के (१८९६ ई.) पूर्व मैंने फिर उन्हें नहीं देखा। उक्त समय में वे दो सप्ताह के लिए डिट्रयेट आये थे। साथ में उनके सांकेतिक लेखक (stenograhper) विश्रम्भ गुड्विन् थे। उन्होंने रिसिल्यू (The Richelieu) में कुछ कमरे किराये पर लिये थे। रिसिल्यू एक छोटा सा 'पारिवारिक-होटल' था—वहाँ लोग सपरिवार निवास करते थे। वहाँ का बड़ा बैठकखाना उन्हें क्लास और वक्तृता देने के लिये मिला। किन्तु वह इतना बड़ा नहीं था कि उसमें उस विशाल जनसमूह के सभी लोगों को स्थान मिल सके, और दुःख का विषय तो यह था कि बहुतों को निराश होकर लौट जाना पड़ता था। बैठकखाना, दालान, सीढ़ी और पुस्तकालय आदि स्थानों में तिल रखने का भी स्थान नहीं बचता था। उस समय वे भक्ति से बिल्कुल परिपूर्ण रहते थे—भगवत्प्रेम ही मानो उनकी क्षुधा-तृष्णा थी। वे मानो ऐश्वरिक उन्मादग्रस्त हो गये थे, प्रेममयी जगज्जननी के प्रति उत्कट आकाङ्क्षा से उनका हृदय ओतप्रोत था।

डिट्रयेट में सर्वसाधारण जनता के समक्ष उनकी अन्तिम उपस्थिति बेथेल मन्दिर में हुई। स्वामीजी के एक अनुरागी भक्त रॉबि लुई ग्रोस्मैन् वहाँ प्रमुख याजक थे। उस दिन रविवार को सन्ध्यासमय जनता इतनी अधिक संख्या में उपस्थित हुई कि हम लोगों को भयभीत होना पड़ा; हम लोगों ने सोचा, जनता व्याकुल होकर न जाने क्या कर बैठेगी।

रास्ते पर भी बहुत दूर तक लोग डटे हुए थे और सैकड़ों लोगों को लौट जाना पड़ा था। स्वामीजी ने उस बृहत् श्रोतृसंघ को मन्त्रमुग्ध सा कर रखा था? उनकी वक्तृता का विषय था—"पाश्चात्य जगत् को भारत का सन्देश" और "सार्वजनीन धर्म का आदर्श"। उनकी वक्तृता अति उत्कृष्ट और पाण्डित्यपूर्ण हुई थी। उस रात्रि में आचार्य-देव को जिस रूप में मैंने देखा, उस रूप में और कभी भी नहीं देखा था। उनके सौन्दर्य में ऐसा कुछ था, जो इस पृथिवी का नहीं था। ऐसा प्रतीत होता था, मानो आत्मापक्षी देहपिञ्जर को तोड़ने की चेष्टा कर रहा है। उसी समय मुझे प्रथम उनके आसन्न देहावसान का पूर्वाभास प्राप्त हुआ था। अनेकों वर्ष के अधिक परिश्रम के कारण वे अत्यन्त श्रान्त हो गये थे, और वे अधिक दिनों तक पृथ्वी पर नहीं रहेंगे, यह उसी समय मालूम हो गया था। "नहीं, यह सब कुछ नहीं होगा" मैं इस अपने प्रकार मन को समझाने की चेष्टा करने लगी. किन्तु हृदय में उसकी सत्यता का अनुभव होने लगा। उन्हें विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी, किन्तु वे भीतर से समझ गये कि उन्हें कार्य पूरा करने के बाद ही जाना होगा।

इसके बाद १८९९ ई. के जुलाई मास में मैंने उनका दर्शन पाया था। वे बहुत बीमार होगये थे। सुदूर समुद्र-यात्रा से स्वास्थ्य में सुधार हो जायगा, इस विचार से उन्होंने गोलकण्डा जहाज़ में कलकत्ते से इङ्गलैण्ड की यात्रा की। जब जहाज़ 'टिलबेरि डॉक' पर पहुँचा, उस समय वे वहाँ पर पहले से ही उपस्थित अपने दो अमेरिकन शिष्यों को देखकर बड़े आश्चर्यान्वित हुए। वे अमुक दिन यात्रा करेंगे, यह संवाद एक भारतीय मासिकपत्र में पढ़ते ही हम लोग तुरन्त उनके दर्शन

के निमित्त अमेरिका से इङ्गलैण्ड पहुँच गई थीं, क्योंकि उनके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में हम लोगों को जो सब जानकारी प्राप्त हुई थी, उससे हमारे मन में बड़ी शंका उत्पन्न होगई थी।

वे बहुत दुबले हो गये थे और देखने में एक लड़के के समान दीखते थे। उनका व्यवहार आदि भी उसी प्रकार का हो गया था। यह देखकर कि इस समुद्र-यात्रा के फलस्वरूप उन्होंने अपने पूर्व बल और शक्ति को फिर कुछ प्राप्त किया, वे बड़े प्रसन्न हुए थे। इस बार स्वामी तुरीयानन्द एवं सिस्टर निवेदिता उनके साथ यात्रा में थे और लन्दन के समीप स्थित विम्बल्डन् नामक स्थान के एक प्रशस्त पुराने ढंग के मकान में दोनों स्वामिओं के लिये स्थान निर्दिष्ट हुआ। स्थान पूर्णतया कोलाहलरहित और शान्तिप्रद था और हम लोगों ने वहाँ पर सुखपूर्वक एक महीने का समय बिताया था।

स्वामीजी ने उस बार सर्वसाधारण जनता के सम्मुख कोई वक्तृता नहीं दी, एवं शीघ्र ही स्वामी तुरीयानन्द और अपने अमेरिकावासी मित्रों के साथ उन्होंने अमेरिका की यात्रा की। समुद्र के वक्षःस्थल पर चिरस्मरणीय दस दिन हम लोगों ने बिताये। प्रतिदिन प्रातःकाल में गीता-पाठ और व्याख्या, संस्कृत कविता और कहानियों की आवृत्ति तथा अनुवाद, एवं सुन्दर स्वर में प्राचीन वैदिक स्तोत्र-पाठ होता था। समुद्र में तरङ्ग-विक्षोभ नहीं था और रात्रि में चन्द्रज्योत्स्ना की अपूर्व शोभा थी। इन कई दिनों का सान्ध्य समय अति सुन्दर था; आचार्यदेव डेक पर भ्रमण करते थे, चन्द्र-प्रकाश में उनका शरीर अति महद्भाव-व्यञ्जक दिखाई देता था, बीच बीच में चलना बन्द कर वे हम लोगों को प्राकृतिक शोभा के सम्बन्ध में कुछ कुछ बताते हुए

ऐसा कहने लगते थे — "देखो, ये सब मायाराज्य के पदार्थ यदि इतने सुन्दर हैं, तो सोचकर देखो, इनके पश्चाद्भाग में जो नित्य वस्तु विद्यमान है, उसका सौन्दर्य कितना अपूर्व होगा!"

एक विशेष रमणीय रजनी में जब कि पूर्ण चन्द्र की कनक-किरणधारा में जगत् हँस रहा था, वे काफी देर तक निर्वाक् भाव से उस दृश्य माधुरी का पान करते रहे। सहसा हम लोगों की ओर देखकर समुद्र और आकाश की ओर अंगुलिनिर्देश करते हुए वे बोले — "जब कि कवित्व की चरम सीमा हम लोगों के सम्मुख विद्यमान है, तब और कविता की आवृत्ति का क्या प्रयोजन?"

हम लोग यथासमय न्यूयार्क पहुँचे; गुरुदेव के साथ ये दस दिन इतने परम आनन्द एवं घनिष्ठ भाव से व्यतीत हुए थे कि हम लोगों ने सोचा कि हम कुछ और भी विलम्ब से क्यों नहीं पहुँचे? इसके बाद १९०० ई. की ४ जुलाई के दिन उनसे साक्षात्कार हुआ, — इस समय वे अपने मित्रों के साथ कुछ दिन व्यतीत करने के लिये डिट्रियेट में आये थे।

वे अत्यन्त कृश हो गये थे, मालूम होता था मानो वह महान आत्मा अब और इस हाड़-मांस के पिंजड़े में आबद्ध नहीं रहेगी! यह ज्ञात होने पर भी कि उनके जीवन की अब कोई आशा नहीं है हम लोग उनके आरोग्य की आशा को अपने हृदय में पोषित करने लगीं।

फिर मैंने उन्हें नहीं देखा, किन्तु 'वह दूसरी शिष्या' स्वामीजी के देहान्त के पूर्व, कई सप्ताह तक भारत में उनके साथ एकत्र रहने का सौभाग्य लाभ कर चुकी थीं। उस समय की बातें स्मरण करते ही असीम कष्ट होता है। वह हृदयभेदी दुःख अभी तक मेरे हृदय

में विद्यमान है; किन्तु इन सभी दुःख-कष्टों के अन्तराल में अति गंभीर प्रदेश में एक महती शान्ति विराजमान है, — वहाँ यह मधुर दिव्य अनुभूति वर्तमान है कि महापुरुषगण अपने जीवन द्वारा लोगों को सत्य का मार्ग प्रदर्शित करने के लिये धरातल पर अवतीर्ण होते हैं। और इस प्रकार के एक महापुरुष का सत्संग तथा कृपालाभ हम लोगों को भी अपने जीवन में संभव हुआ था। जब मैं इस घटना की गुरुता को अनुभव करती हूँ तथा दिनोंदिन उनकी उक्तियों में नूतन नूतन सौन्दर्य और गंभीरतर अर्थ देख पाती हूँ एवं उनके सम्बन्ध में चिन्ता करती हूँ, तब मुझे ठीक ऐसा ही अनुभव होता है मानो कोई कह रहा है — "जूता खोलकर दूर रख दो, क्योंकि जिस स्थान पर तुम खड़ी हो, वह पवित्र भूमि है।"

डिट्रियेट, मिशिगैन, १९०८ एम्. सी. फान्की

देववाणी

देववाणी

बुधवार दि० १९ जून १८९५

[स्वामीजी बाइबिल की एक पुस्तक हाथ में लेकर छात्रों के समक्ष उपस्थित हुए, एवं उसके नवीन संहिताभाग (New Testament) के सेन्ट जॉन द्वारा संकलित उपदेशों को खोलकर बोले, "जब तुम लोग सभी ईसाई हो, तो ईसाई शास्त्र से ही शुरू करना ठीक होगा।"]

जॉन के ग्रंथ के प्रारम्भ में ही यह उपदेश है—"आदि में शब्द मात्र था, वह शब्द ब्रह्म के साथ विद्यमान था और वह शब्द ही ब्रह्म है।"

हिन्दू लोग इस 'शब्द' को माया या ब्रह्म का व्यक्त भाव कहते हैं, क्योंकि यह ब्रह्म की ही शक्ति है। जब उस निरपेक्ष ब्रह्मसत्ता को हम माया के आवरण में से देखते हैं, तब हम उसे 'प्रकृति' कहते हैं। 'शब्द' का विकास द्विविध है, एक है यह प्रकृति—यह है साधारण विकास। और इसके विशेष विकास हैं कृष्ण, बुद्ध, ईसा, रामकृष्ण आदि सब अवतार-पुरुष। उस निर्गुण ब्रह्म के विशेष विकास—ईसा—को हम जानते हैं, वे हमारे ज्ञेय हैं; किन्तु निर्गुण ब्रह्म को हम नहीं जान सकते। हम परम पिता* को नहीं जान सकते, उसके पुत्र† को

* God the Father † God the Son

जान सकते हैं। निर्गुण ब्रह्म को हम केवल 'मानवत्वरूपी रंग' में से ही देख सकते हैं, ईसा में से ही देख सकते हैं।

जॉन-रचित ग्रन्थ के प्रथम पाँच श्लोकों में ईसाई धर्म का सार निहित है। इसका प्रत्येक श्लोक गम्भीरतम दार्शनिक तथ्य से परिपूर्ण है।

जो पूर्णस्वरूप हैं, वे कभी अपूर्ण नहीं होते। अंधकार के मध्य में रहते हुए भी वे अंधकार से अस्पृष्ट रहते हैं। ईश्वर की दया सभी के ऊपर रहती है, किन्तु उनका (मनुष्यों का) पाप उन्हें छू नहीं सकता। हम नेत्ररोग से ग्रसित हो सूर्य को अन्य प्रकार का देख सकते हैं, किन्तु सूर्य जैसा पहले था वैसा ही रहता है, उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। जॉन के उनतीसवें श्लोक में जो लिखा है—"जगत् का पाप दूर करते हैं"—उसका अभिप्राय यह है कि ईसा हमें पूर्णता प्राप्त करने का पथ दिखला देंगे। ईश्वर ने ईसा होकर जन्म लिया—मनुष्य को उसके प्रकृत स्वरूप को दिखला देने और यह समझा देने के लिये कि हम भी वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप ही हैं। हम लोग हैं देवत्व के ऊपर मनुष्यत्व का आवरण मात्र, किन्तु देवभावापन्न मनुष्य की दृष्टि से ईसा और हममें स्वरूपतः कोई भेद नहीं है।

त्रित्ववादियों* (Trinitarians) के ईसा हमारे समान साधारण मनुष्यों की अपेक्षा बहुत ही उच्च स्तर पर अवस्थित हैं। एकत्ववादियों (Unitarian) के ईसा ईश्वर नहीं हैं, वे एक साधु पुरुष मात्र हैं। इन दोनों में कोई भी हमारी सहायता नहीं कर सकते।

---

* त्रित्ववादी (Trinitarian) के मत में पिता, पुत्र और पवित्रात्मा के भेद से एक ही ईश्वर तीन हैं। दूसरे सम्प्रदाय इस बात को स्वीकार नहीं करते, वे कहते हैं ईसा मनुष्य मात्र थे।

किन्तु जो ईसा ईश्वर के अवतार हैं, वे अपने ईश्वरत्व को नहीं भूलते, वे ही ईसा हमारी सहायता कर सकते हैं। उनमें किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं है। इन सभी अवतारों को यह सर्वदा स्मरण रहता है कि वे साक्षात् ईश्वर हैं — उनका यह ज्ञान जीवन भर वैसा ही बना रहता है। वे उन अभिनेताओं के समान हैं, जिनका अपना अभिनय समाप्त हो चुका है, जिनका निजी अन्य कोई प्रयोजन नहीं है तो भी जो दूसरों को आनंद देने के लिये रंगमञ्च पर बारम्बार आते हैं। इन महापुरुषों को संसार की कोई भी मलिनता नहीं छू पाती। वे हमें कुछ काल तक शिक्षा देने भर के लिये मनुष्य होकर आते हैं, वे ऐसा अभिनय करते हैं मानो वे हमारे ही सदृश बद्ध हैं, किन्तु वास्तव में वे कभी भी बद्ध नहीं हैं, वे सर्वदा मुक्तस्वभाव ही रहते हैं।

*　　*　　*　　*

'मङ्गल' यद्यपि सत्य के समीपवर्ती है, किन्तु तो भी वह सत्य नहीं है; 'अमङ्गल' हमें विचलित न कर सके, यह सीखने के बाद हमें यह सीखना होगा कि 'मंगल' भी हमें सुखी न कर सके। हमें जानना होगा कि हम मंगल और अमंगल दोनों के परे हैं। वे दोनों सीमाबद्ध हैं। और हमें यह समझना होगा कि एक के रहने पर दूसरा रहेगा ही। द्वैतवाद का भाव प्राचीन पारसियों से आया है। वास्तव में अच्छा और बुरा दोनों एक ही हैं और हमारे मन पर अवलंबित हैं*। मन जब स्थिर और शान्त रहता है, तब अच्छा-बुरा कुछ भी उसे

---

* जरथुस्त्र के अनुयायी प्राचीन पारसी लोगों का विश्वास था कि शुभाशुभ के अधिष्ठाता अहुरमज्द और आह्रिमान नामक दो देवताओं से समस्त जगत नियंत्रित है।

स्पर्श नहीं कर पाता। शुभ और अशुभ दोनों के बंधन को काटकर संपूर्ण रूप से मुक्त हो जाओ, तब इन दोनों में से कोई भी तुम्हें स्पर्श नहीं कर सकेगा और तुम मुक्त होकर परम आनंद का अनुभव करोगे। अशुभ मानो लोहे की जंजीर है और शुभ सोने की, किन्तु जंजीर दोनों ही हैं। मुक्त हो जाओ और सदा के लिये यह जान लो कि कोई भी जंजीर तुम्हें बांध नहीं सकती। सोने की जंजीर की सहायता से लोहे की जंजीर को ढीली कर दो और फिर दोनों को फेंक दो। अशुभ रूपी काँटा हमारे शरीर में चुभा हुआ है; उसी वृक्ष का एक और काँटा (शुभ रूपी) लेकर पहले काँटे को निकाल लो, फिर दोनों को फेंक दो और मुक्त हो जाओ।

*　　*　　*　　*

संसार में सर्वदा दाता का आसन ग्रहण करो। सर्वस्व दे दो, पर बदले में कुछ न चाहो। प्रेम दो, सहायता दो, सेवा दो; इनमें से जो तुम्हारे पास देने के लिये है वह दे डालो; किन्तु सावधान रहो, उनके बदले में कुछ लेने की इच्छा कभी न करो। किसी तरह की कोई शर्त मत रखो। ऐसा करने पर तुम्हारे लिये भी कोई किसी तरह की शर्त नहीं रखेगा। अपनी हार्दिक दानशीलता के कारण ही हम देते चलें—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ईश्वर हमें देते हैं।

एक मात्र ईश्वर ही देनेवाले हैं, संसार के अन्य सभी लोग दूकानदार मात्र हैं।..........उसी के हस्ताक्षरवाले चेक को प्राप्त करने का यत्न करो; उसे लेकर जहाँ जाओगे, वहीं तुम्हारा स्वागत होगा।

"ईश्वर अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप हैं," उपलब्धि की वस्तु हैं; किन्तु 'इति' 'इति' शब्द से वे कभी निर्दिष्ट नहीं हो सकते।

*　　*　　*　　*

हम जब किसी दुःख या संघर्ष में फँसते हैं तब सारा संसार हमारे लिये अत्यन्त भयावह प्रतीत होने लगता है। किन्तु जैसे हम कुत्ते के दो बच्चों को आपस में खेल करते हुए या एक दूसरे को काटते हुए देखकर पहले तो उस ओर ध्यान ही नहीं देते, समझते हैं ये दोनों आपस में खेल कर रहे हैं; इतना ही नहीं, बीच बीच में यदि उन्हें एक आध बड़ा घाव भी लग जाय तो भी हम समझते हैं कि इससे इनका कोई विशेष अनिष्ट नहीं होगा, उसी प्रकार हम लोगों की मारपीट और झगड़े आदि भी ईश्वर की दृष्टि में खेल मात्र हैं, विशेष कुछ नहीं। यह संपूर्ण जगत् केवल खेल के लिये है — भगवान् को इसमें आनंद ही होता है। संसार में कुछ भी क्यों न हो, उन्हें क्रोध नहीं आता।

*　　*　　*　　*

"माँ, इस जीवन-समुद्र में मेरी नौका डूब रही है। भ्रमजाल की आँधी और मोह-ममता का प्रचण्ड झंझावात प्रतिक्षण बढ़ता जा रहा है। मेरे पाँचों माँझी (पंचेन्द्रियाँ) मूर्ख हैं और कर्णधार (मन) दुर्बल है। मेरी स्थिति डाँवाडोल है। मेरी नाव डूब रही है। माँ, मुझे बचाओ, मेरी रक्षा करो।"

"माँ, तुम्हारा प्रकाश केवल साधुओं में ही नहीं, पापियों में भी है; यह प्रकाश प्रेमिकों के भीतर जैसे रहता है, वैसे ही हत्याकारियों के भीतर भी विद्यमान है। माँ ही सभी रूपों में स्वयं को अभिव्यक्त कर रही हैं। आलोक अशुद्ध वस्तु पर पड़ने से अशुद्ध नहीं होता, इसी तरह शुद्ध वस्तु पर पड़ने से उसके गुण में वृद्धि नहीं होती।

आलोक नित्यशुद्ध, सदा अपरिणामी है। सभी प्राणियों के भीतर वही सौम्यात्सौम्यतरा, नित्यशुद्धस्वभावा, सदा अपरिणामिनी माँ विराजमान हैं।"

"या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥"

वे दुःख-दर्द में, भूख-प्यास में उसी प्रकार रहते हैं, जिस प्रकार सुख में तथा उदात्त भावों में। यह भ्रमर जो मधुपान कर रहा है, वह दूसरा कोई नहीं है, वे स्वयं प्रभु ही इस भ्रमररूप में मधुपान कर रहे हैं। ईश्वर ही सब के भीतर हैं, यह जानकर ज्ञानी व्यक्ति निन्दा, स्तुति दोनों का परित्याग करते हैं। जान लो, कोई भी तुम्हारा अनिष्ट नहीं कर सकता। कैसे कर सकेगा? क्या तुम मुक्त नहीं हो? क्या तुम आत्मा नहीं हो? वे हमारे प्राणों के भी प्राण, चक्षु के भी चक्षु और श्रोत्र के भी श्रोत्र हैं।*

हम लोग संसार के बीच से होकर चल रहे हैं; हम इस प्रकार भागे चले जा रहे हैं मानो हमें कोई सिपाही पकड़ने आ रहा हो— इसीलिये हमें जगत् के सौन्दर्य का लेशमात्र ही आभास मिलता है।

हमें यह जो इतना भय हो रहा है उसका कारण है जड़ को सत्य समझकर उसमें विश्वास करना। जड़ की जो कुछ तथाकथित सत्ता प्रतीत हो रही है, वह हमारे मन के ही कारण है। हम जगत् नामक जो कुछ देख रहे हैं, वह ईश्वर ही हैं—वे ही प्रकृति के बीच से अपने को अभिव्यक्त कर रहे हैं।

* श्रोत्रस्य श्रोत्रं............स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुः।
—केनोपनिषद्, द्वितीय श्लोक

२३ जून, रविवार

साहसी और निष्कपट बनो। उसके बाद जिस मार्ग पर चाहो अपनी इच्छानुसार भक्ति और विश्वास के साथ अग्रसर होओ। निश्चय ही तुम उस पूर्ण वस्तु को प्राप्त करोगे। यदि एक बार किसी तरह जंजीर की एक कड़ी पकड़ सको तो पूरी जंजीर को क्रमशः अपने पास खींच लाने में समर्थ हो सकोगे। वृक्ष की जड़ में यदि जल डाला जाय, तो समस्त वृक्ष जल प्राप्त कर लेता है। यदि हम भगवान् को पा सकें तो समझो सब कुछ पा लिया।

एकाङ्गी भाव ही जगत् के लिये अति अनिष्टकर वस्तु है। तुम अपने अंदर जितने विभिन्न भावों को विकसित कर सकोगे, उतने ही विभिन्न भावों से — कभी ज्ञानी की दृष्टि से और कभी भक्त की दृष्टि से — जगत् का उपभोग कर सकोगे। पहले अपने स्वभाव को ठीक ठीक पहचान लो, फिर उसी के अनुसार निष्ठा के साथ पथ पर आगे बढ़ो। प्रवर्तक के लिये निष्ठा (एक भाव में दृढ़ रहना) ही एकमात्र उपाय है। यदि यथार्थ भक्ति हो, विश्वास हो, और 'भाव के घर में चोरी' न हो जाय तो यह निष्ठा ही तुमको एक भाव से सभी भावों में ले जायेगी। गिर्जा, मंदिर, मतमतान्तर, विविध अनुष्ठान आदि तो पौधे की रक्षा के लिये लगाये गये घेरे के समान हैं। यदि पौधे को बढ़ाना चाहते हो तो अन्त में इस घेरे को हटाना ही पड़ेगा। इसी प्रकार विभिन्न धर्म, वेद, बाइबिल, मतमतान्तर, — ये सभी पौधों के गमलों के सदृश हैं, किन्तु इन गमलों से उन्हें एक न एक दिन बाहर निकलना ही पड़ेगा। निष्ठा भी पौधे के गमले के समान ही साधक की रक्षा करती है।

*　　*　　*　　*

एक एक तरंग को नहीं, सारे समुद्र को देखो; पिपिलिका और देवता में भेद-दृष्टि मत रखो। प्रत्येक कीट-पतंग तक प्रभु ईसा का भाई है। फिर एक को बड़ा, एक को छोटा कैसे कहते हो? अपने अपने स्थान पर सभी बड़े हैं। हम जिस प्रकार यहाँ रहते हैं उसी प्रकार सूर्य, चंद्र और तारों में भी रहते हैं। आत्मा देश-कालातीत और सर्वव्यापी है। जिस मुख से भी उस प्रभु का गुणगान हो रहा है, वह हमारा ही मुख है; जो भी आँख वस्तु को देख रही है, वह हमारी आँख है। हम किसी निर्दिष्ट स्थान में सीमाबद्ध नहीं हैं, हम देह नहीं हैं, समग्र ब्रह्माण्ड हमारी देह है। हम एक जादूगर के समान मायारूपी छड़ी घुमाते हैं और अपने सम्मुख इच्छानुसार नाना प्रकार के दृश्यों की सृष्टि करते हैं। हम मकड़ी के समान स्वनिर्मित एक बहुत बड़े जाल के बीच रहते हैं। मकड़ी अपनी इच्छानुसार जाल के किसी भी तार पर जा सकती है। आज वह जिस स्थान में रहती है उतने को ही जान सकती है, परन्तु बाद में वह समस्त जाल को जान सकेगी। आज हमारा शरीर जिस स्थान में है, उसी स्थान में हम अपनी सत्ता का अनुभव करते हैं। इस समय हम केवल एक मस्तिष्क का व्यवहार कर पाते है, किन्तु जब हम पूर्ण ज्ञान अथवा ज्ञानातीत अवस्था में पहुँचेंगे तब हम सब कुछ जान लेंगे, हम सब मस्तिष्कों का व्यवहार कर सकेंगे। आज भी हम अपने वर्तमान ज्ञान को धक्का देकर इस प्रकार ठेल सकते हैं कि वह अपनी सीमा को छोड़कर आगे बढ़ जाय और ज्ञानातीत या पूर्ण ज्ञान की भूमि में कार्य करने लगे।

हम चेष्टा करते हैं, केवल 'अस्ति'-स्वरूप, सत्स्वरूप होने के

लिये। उसमें 'अहं' भी नहीं रहेगा, शुद्ध स्फटिक के समान उसमें समग्र जगत् का केवल प्रतिबिम्ब पड़ेगा, किन्तु वह जैसा है वैसा ही रहेगा। यह अवस्था प्राप्त होने पर क्रिया नहीं रहती, शरीर केवल यंत्रवत् हो जाता है; वह सर्वदा शुद्ध भावयुक्त ही रहता है, उसकी शुद्धि के लिये चेष्टा नहीं करनी पड़ती, वह अपवित्र हो ही नहीं सकता।

अपने को वही अनंत स्वरूप समझो, ऐसा करने से भय बिल्कुल चला जायगा। सर्वदा कहो,—"मैं और मेरे पिता (ईश्वर) एक हैं।" *

* * * *

अंगूर की लता पर जिस प्रकार गुच्छों में अंगूर फलते हैं, उसी प्रकार भविष्य में सैकड़ों ईसाओं का आविर्भाव होगा। उस समय संसार का खेल समाप्त हो जायेगा। सभी संसार-चक्र से बाहर निकल जायेंगे और मुक्त हो जायेंगे। मान लीजिये, एक पतीली में पानी रखा गया है; उबलने से पहले पानी में एक के बाद एक बुलबुले उठते हैं, कोई बड़ा, कोई छोटा, क्रमशः इन बुलबुलों की संख्या बढ़ने लगती है, अन्त में सभी पानी एक आवाज़ के साथ खौलने लगता है और भाप बनकर बाहर निकल जाता है। बुद्ध और ईसा भी इस जगत् में सर्वापेक्षा बड़े बुलबुले हैं। मूसा एक छोटा बुलबुला थे, उसके बाद और भी कई बड़े बड़े बुलबुले उठे। इसी प्रकार एक समय ऐसा आएगा जब संपूर्ण जगत् बुलबुले होकर भाप के समान अदृश्य हो जायगा। परन्तु सृष्टि-प्रवाह अविरत चलता ही रहेगा, फिर नूतन जल की सृष्टि होगी ही; और वह सृष्टि भी फिर इसी प्रक्रिया के अनुसार चलती रहेगी।

---

* "I and my Father are one." —बाइबिल

२४ जून, सोमवार

(आज स्वामीजी नारदीय भक्तिसूत्र के विशेष स्थलों को पढ़कर व्याख्या करने लगे।)

"भक्ति ईश्वर के प्रति परमप्रेमस्वरूप है, अमृतस्वरूप है। उसकी प्राप्ति से मनुष्य सिद्ध बनता है, अमृतत्व लाभ करता है और परितृप्त हो जाता है। उसे पाकर मनुष्य और किसी की आकांक्षा नहीं करता. किसी के लिए शोक नहीं करता, किसी के भी प्रति द्वेष नहीं रखता. अन्य विषयों में आनन्द का अनुभव नहीं करता और किसी सांसारिक विषय से उत्साहित नहीं होता। उसे जानने पर मनुष्य मस्त और स्तब्ध हो जाता है, 'आत्माराम' हो जाता है।"

मेरे गुरुदेव कहा करते थे—"यह जगत् एक विशाल पागलखाना है। यहाँ तो सभी पागल हैं—कोई रुपयों के लिए, कोई स्त्रियों के लिए, कोई नाम और यश के लिए। कुछ मनुष्य ऐसे भी हैं जो ईश्वर के लिए पागल हैं। अन्यान्य वस्तुओं के लिए पागल न होकर ईश्वर के लिए पागल होना क्या अच्छा नहीं है? ईश्वर हैं पारसमणि। उनके स्पर्श से मनुष्य एक ही क्षण में सोना बन जाता है; यद्यपि आकार पूर्ववत् ही रहता है, किन्तु प्रकृति बदल जाती है—मनुष्य का आकार रहता है, किन्तु उससे किसी का भी अनिष्ट नहीं होता, उससे अन्याय का कोई कार्य हो ही नहीं सकता।"

---

* सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति। यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति। यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति।

—नारदभक्तिसूत्र, १ म अनुवाक, २–६ सूत्र।

"ईश्वर का चिन्तन करते करते कोई रोने लगता है, कोई हँसने लगता है; कोई गाता है, कोई नाचता है; और किसी के मुख से अद्भुत बातें निकलने लगती हैं। किन्तु सब उन एक ईश्वर की ही बातें करते हैं।"*

महापुरुषगण धर्म का प्रचार करके चले जाते हैं, किन्तु ईसा, बुद्ध, रामकृष्ण आदि के समान अवतार पुरुष ही धर्म 'दे सकते हैं'। वे दृष्टिमात्र अथवा स्पर्शमात्र से ही दूसरों में धर्म की शक्ति का संचार कर सकते हैं। ईसाई धर्म में इसी को पवित्रात्मा (Holy Ghost) की शक्ति कहते हैं—इसी कार्य को लक्ष्य करके 'हस्तस्पर्श' (The laying on of hands) की कथा बाइबिल में कही गयी है। आचार्य ईसा ने अपने शिष्यों के भीतर सचमुच शक्तिसंचार किया था। इसी को 'गुरुपरंपरागत शक्ति' कहते हैं। यही यथार्थ बप्तिस्मा (Baptism—दीक्षा) है और अनादिकाल से चली आ रही है।

"भक्ति को किसी वासना की पूर्ति का साधन नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि भक्ति तो समस्त वासनाओं के निरोध का कारण-स्वरूप है।"×

नारद ने भक्ति का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—"जब

* भगवान् के निम्नलिखित श्लोक में इस भाव का वर्णन है—
'क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्धसन्ति निन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥
—श्रीमद्भागवत, ११श स्कन्ध, ३य अध्याय, ३२ श्लोक।

× सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्॥
—नारदभक्तिसूत्र, २य अनुवाक, ७म सूत्र।

समस्त चिन्ताएँ, समस्त वाणि-व्यापार और समस्त क्रियाएँ उनके प्रति अर्पित हो जाती हैं और क्षणमात्र के लिए भी उनकी विस्मृति हृदय में परम व्याकुलता उत्पन्न कर देती है, तभी यथार्थ भक्ति का उदय समझना चाहिए।" +

यही भक्ति प्रेम की सर्वोच्च अवस्था है; क्योंकि अन्यान्य साधारण प्रेम में प्रेमिक अपने प्रेमास्पद से प्रेम का प्रतिदान चाहते हैं, किन्तु भक्त अपने प्रेम में केवल उनके सुख से ही सुखी होता है।"‡

"सच्ची भक्ति प्राप्त होने पर सर्वस्व का त्याग होता है, इस कथन का तात्पर्य यह है कि उस व्यक्ति के समस्त लौकिक और वैदिक कर्मों का त्याग हो जाता है।"

"जब अन्य सभी आश्रयों को छोड़कर चित्त उनके (ईश्वर के) प्रति आसक्त होता है और उनके प्रतिकूल सभी विषयों से उदासीन हो जाता है, तभी यथार्थ भक्ति की प्राप्ति समझनी चाहिए।" †

जब तक चित्त में इतनी दृढ़ता नहीं आ जाती कि शास्त्र-विधियों का पालन छोड़ देने पर भी हृदय का यथार्थ भक्तिभाव नष्ट नहीं होता तब तक इन सबको मानते चलो, किन्तु उसके बाद तुम्हें शास्त्र के परे जाना होगा। शास्त्र के विधि-निषेधों को मानकर चलना ही जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। आध्यात्मिक सत्य का एकमात्र प्रमाण है—प्रत्यक्षीकरण। प्रत्येक को स्वयं परीक्षा करके देखना होगा कि यह सत्य

\+ नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥
—ना. भ., ३य अनुवाक, १९ सू.।

‡ नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम्। —ना. भ., ३य अनु., २४ सूत्र।

† निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः।
तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च। —ना. भ., २य अनु., ८, ९ सूत्र

है या नहीं। जो धर्माचार्य यह कहते है कि मैंने इस सत्य का दर्शन किया है, किन्तु तुम कभी नहीं कर सकते, उनकी बात पर विश्वास मत करो; किन्तु जो यह कहते हैं कि तुम भी चेष्टा करने पर दर्शन पा सकोगे, केवल उन्हीं की बात पर विश्वास करो। इस संसार में सभी युगों के, सभी देशों के सभी शास्त्र और सभी सत्य वेद हैं; क्योंकि इन सभी सत्यों का प्रत्यक्ष अनुभव करना पड़ता है और सभी लोग इन सब सत्यों का आविष्कार कर सकते हैं।

जब भक्तिसूर्य की किरणों से सभी दिशाएँ उद्भासित हो उठती हैं तब हम सभी कर्मों को ईश्वरार्पण कर देना चाहते हैं; और उनकी एक क्षण की भी विस्मृति से हमें बड़े क्लेश का अनुभव होता है।

ईश्वर और उनके प्रति तुम्हारी भक्ति — दोनों के बीच ऐसी कोई अन्य वस्तु नहीं होनी चाहिए जो तुम्हें उनकी ओर अग्रसर होने से रोक सके। उनकी भक्ति करो, उनके प्रति अनुरागी बनो, उन पर प्रेम करो। लोग कुछ भी कहें, कहने दो, उसकी परवाह मत करो। प्रेम-भक्ति तीन प्रकार की होती है — समर्था, समञ्जसा और साधारणी। साधारणी प्रीतिवाला व्यक्ति अपने प्रेमास्पद से 'यह दो, यह दो' ही कहना चाहता है, किन्तु स्वयं कुछ भी देना नहीं चाहता। समञ्जसा में आदान और प्रदान दोनों की भावना रहती है, किन्तु समर्था में भक्त बदले में कुछ भी नहीं चाहता; जैसे पतिंगा प्रदीप के प्रति प्रेम के कारण आकर्षित होता है; वह जलकर भस्म भले ही हो जाय, पर उसके प्रति अपना प्रेम नहीं छोड़ता।

"यह भक्ति कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठ है।"[1]

[1] सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा। —नारदभक्तिसूत्र, ४ थं अनु., २५ सूत्र।

कर्म के द्वारा केवल कर्म करनेवाले का ही चित्त शुद्ध होता है, उससे दूसरों का कुछ उपकार नहीं होता। हमें अपनी ही साधना से अपनी उन्नति करनी है, महापुरुषगण तो हमारा केवल पथ-प्रदर्शन करते हैं। और "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।" ईसा के श्रीचरणों में यदि तुम अपने को समर्पित कर दोगे तो तुम्हें सर्वदा उनका चिन्तन करना होगा और इस चिन्तन के फलस्वरूप तुम तद्भावापन्न हो जाओगे। इस प्रकार की तन्मयता का नाम ही भक्ति या प्रेम है। "पराभक्ति और पराविद्या दोनों एक ही हैं।"

किन्तु ईश्वर के संबंध में केवल नानाविध मतमतान्तरों की आलोचना करने से काम नहीं चलेगा। ईश्वर से प्रेम करना होगा और साधना करनी होगी। संसार और सांसारिक विषयों का त्याग विशेषत: तब तक करो जब तक मनरूपी 'पौधा' शक्तिशाली नहीं हो जाता। दिनरात ईश्वर का चिन्तन करो; जहाँ तक हो सके दूसरे विषयों का चिन्तन छोड़ दो। जिन दैनिक कर्तव्यों की चिन्ता करनी ही पड़े वे सब ईश्वर-भावापन्न होकर किये जा सकते हैं।

"शयन में समझो माँ को प्रणाम कर रहा हूँ, निद्रा में समझो उनका ही ध्यान कर रहा हूँ और आहार में समझो श्यामा माँ को ही आहुति दे रहा हूँ।"

सभी कार्यों में, सभी वस्तुओं में केवल उन्हीं का दर्शन करो। दूसरों के साथ केवल ईश्वर की ही चर्चा करो। इससे हमें अपनी साधना में बड़ी सहायता मिलेगी।

भगवान् की कृपा अथवा उनकी योग्यतम सन्तान महापुरुषों की

कृपा प्राप्त कर लो।* ये ही दो भगवत्प्राप्ति के दो प्रधान उपाय हैं। ऐसे महापुरुषों का संगलाभ होना बहुत ही कठिन है, पाँच मिनट भी उनका ठीक ठीक संगलाभ हो जाय तो सारा जीवन ही बदल जाता है।† यदि तुम इन महापुरुषों की संगति के सचमुच इच्छुक हो तो तुम्हें किसी न किसी महापुरुष का संगलाभ अवश्य होगा।

ये भक्त, ये महापुरुष जहाँ रहते हैं वह स्थान तीर्थ बन जाता है. वे जो कहते हैं वही शास्त्र हो जाता है और वे जो कुछ कार्य करते हैं वही सत्कर्म समझा जाता है। ऐसा है उनका माहात्म्य! × वे जिस स्थान पर निवास करते हैं, वह उनके देहनिःसृत पवित्र शक्ति-स्पन्दन से परिपूर्ण हो जाता है; जो कोई उस स्थान पर जाता है, वही उस स्पन्दन का अनुभव करता है और इसी कारण उसके भीतर भी पवित्र भाव का संचार होता है।

"इस प्रकार के भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन आदि का भेद नहीं रहता, क्योंकि वे उनके (ईश्वर के) हैं।"+

कुसंग पूर्ण रूप से छोड़ दो, विशेषतः प्रारम्भिक अवस्था में। विषयी लोगों का संग कभी न करो, क्योंकि उनकी संगति से चित्त चंचल हो जाता है। 'मैं' और 'मेरा' के भाव को सर्वथा छोड़ दो। जिसके लिए जगत् में 'मेरा' कुछ भी नहीं है, उसीके निकट भगवान्

* मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा।—नार. भक्ति., ५ म अनु., ३८ सूत्र।

† महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।—नार. भक्ति., ५ अनु., ३९ सूत्र।

× तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि। तन्मयाः।—ना. भ., ९ म अनु., ६९, ७० सूत्र।

+ नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः। यतस्तदीयाः।—ना. भ., ९ म अनु., ७२, ७३ सूत्र।

आविर्भूत होते हैं। सभी प्रकार के मायिक प्रेम के बन्धनों को काट डालो। आलस्य का त्याग करो, और 'मेरा क्या होगा' इस प्रकार की चिन्ता कभी न करो। तुमने जो कुछ काम किया है, उसका फलाफल जानने के लिए पीछे की ओर मुड़कर मत देखो। भगवान् को समर्पण कर कर्म करते चलो, फलाफल की कुछ भी चिन्ता न करो।† जब मन और प्राण अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में भगवान् की ओर जाते हैं, जब रुपये-पैसे या नाम-यश की प्राप्ति के लिए समय नहीं बचता, भगवान् को छोड़ अन्य किसी के चिन्तन का अवसर नहीं मिलता, तभी हृदय में उस अपार अपूर्व प्रेमानन्द का उदय होता है। वासनाएँ तो काठ की माला के समान असार हैं।

प्रकृत प्रेम या भक्ति निर्हेतुक है, यहाँ किसी प्रकार की कामना नहीं है। यह तो नित्य नूतन और प्रतिक्षण वर्धिष्णु है, और है सूक्ष्म अनुभवस्वरूप। अनुभव के द्वारा ही इसे समझना होता है, व्याख्या के द्वारा यह नहीं समझाई जा सकती।*

भक्ति ही सबसे सहज साधन है। भक्ति स्वाभाविक है, इसमें किसी युक्ति या तर्क की अपेक्षा नहीं; भक्ति स्वयं प्रमाण है, इसके

---

† दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः। कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात्। तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति। कस्तरति कस्तरति मायाम्? यः सङ्गाँस्त्यजति यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति। यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति, निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति। यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि संन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति। वेदानपि संन्यस्यति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते। —ना. भ., ६ ष्ठ अनु., ४३ से ४९ सूत्र।

* गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। —ना. भ., ७म अनु., ५४ सूत्र।

लिए और किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं।+ युक्ति-तर्क क्या है? अपने मन के द्वारा किसी विषय को सीमाबद्ध करना ही युक्ति-तर्क है। हम मानो अपने मन का जाल फैलाकर किसी विषय को पकड़ते है और कहते हैं कि हमने इस विषय को प्रमाणित किया है। किन्तु ईश्वर को हम जाल के द्वारा पकड़ नहीं सकते — कभी भी नहीं।

भक्ति अहैतुकी होनी चाहिए। हम जब प्रेम के अयोग्य किसी वस्तु या व्यक्ति से प्यार करते हैं, तब वह प्रेम भी उसी प्रकृत प्रेम और प्रकृत आनन्द की अभिव्यक्ति मात्र है। प्रेम को चाहे जिस रूप से व्यवहार में क्यों न लाओ, प्रेम स्वभाव से ही शान्ति और आनन्द-स्वरूप है।×

हत्यारा जब अपने शिशु का चुम्बन करता है, उस समय वह प्रेम को छोड़ अन्य सब कुछ भूल जाता है। 'अहं' का बिल्कुल नाश कर डालो। काम-क्रोध का त्याग करो — अपना सर्वस्व ईश्वर को समर्पित कर दो। 'नाहं नाहं, त्वमेव त्वमेव' — 'मैं नहीं हूँ, मैं नहीं हूँ, तू ही है, तू ही है' — 'मैं' मर गया, रहे हो केवल 'तुम' ही। 'मैं तुम ही हूँ'। किसी की निन्दा मत करो। यदि दुःख-विपत्ति आए, तो समझो ईश्वर तुम्हारे साथ खेल कर रहे हैं — और यही समझकर दुःख में भी परम सुखी रहो।

भक्ति या प्रेम देशकालातीत है, वह पूर्णस्वरूप है।

+ अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ।
प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात्।
—ना. भ., ८ म अनु., ५८,५९ सूत्र।

× शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च।
—ना. भ., ८ म अनु., ६० सूत्र।

२५ जून, मंगलवार

जब किसी प्रकार का सुखोपभोग करोगे, तो बाद में दुःख आएगा ही—यह दुःख उसी क्षण आ सकता है, अथवा सम्भव है, कुछ देर में आए। जो आत्मा जितनी उन्नत है, उसे सुख के बाद दुःख भी उतना ही शीघ्र प्राप्त होता है। हमें सुख दुःख दोनों की अतीत अवस्था में जाना चाहिए। ये दोनों ही हमारे प्रकृत स्वरूप को भुला देते हैं। दोनों ही जंजीर हैं—एक लोहे की, दूसरी सोने की। इन दोनों के पीछे ही आत्मा है—उसमें न सुख है, न दुःख। सुख-दुःख दोनों ही अवस्थाविशेष हैं और प्रत्येक अवस्था ही सदा परिवर्तनशील होती है। परन्तु आत्मा आनन्दस्वरूप, अपरिणामी और शान्तिस्वरूप है। हमें आत्मा की प्राप्ति नहीं करनी है, वह तो हमारा प्रकृत रूप ही है, केवल उसके ऊपर मैल पड़ गया है, उस मैल को धो डालो, तभी उसका दर्शन होगा।

इस आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर ही हम जगत् से ठीक ठीक प्रेम कर सकेंगे। खूब उच्च भाव में अपने को प्रतिष्ठित करो, 'मैं अनन्त आत्मस्वरूप हूँ' यह समझकर हमें जगत्प्रपञ्च की ओर सम्पूर्ण शान्त भाव से दृष्टिपात करना होगा। यह जगत् तो एक छोटे बच्चे के खिलौने के समान है; हम जब उसे समझ लेंगे तब जगत् में कुछ भी क्यों न हो, वह हमें चंचल न कर सकेगा। यदि प्रशंसा से मन प्रसन्न होगा तो निन्दा से वह अवश्य ही विषण्ण हो जायेगा। केवल इन्द्रियों का ही नहीं, मन का भी समस्त सुख अनित्य है; किन्तु हमारे भीतर ही वह निरपेक्ष सुख रहता है जो किसी और के ऊपर निर्भर नहीं रहता। यह सुख पूरी तरह स्वायत्त सुख है, यह सुख आनन्दस्वरूप

है। सुख के लिए बाहरी वस्तुओं के ऊपर निर्भर न रहकर आभ्यन्तरिक आत्मा पर हम जितना निर्भर रहेंगे — जितना ही हम 'अन्त:सुख, अन्तराराम और अन्तर्ज्योति' होंगे — उतना ही हम धार्मिक होंगे। इस आत्मानन्द को ही जगत् में धर्म कहते हैं।

अन्तर्जगत् — जो कि वास्तविक सत्य है — बहिर्जगत् की अपेक्षा अनन्त गुना श्रेष्ठ है। बहिर्जगत् तो उस सत्य अन्तर्जगत् का छायामय बहि:प्रकाश मात्र है। यह जगत् न तो सत्य है, न मिथ्या। यह तो सत्य की छायामात्र है। कवि कहते हैं, "यह कल्पनात्मक है, — यह केवल सत्य की स्वर्णिम छाया है।"

हम यदि अलग कर दिए जायँ, तो जगत् अचेतन, मृत और जड़पदार्थ मात्र रह जाता है। हम जब जगत् में प्रवेश करते हैं, तभी वह हमारे लिए सजीव हो उठता है। हम ही जगत् के पदार्थसमूह को जीवनदान करते है, किन्तु एक निर्बोध जीव के समान इस तथ्य को भूलकर कभी हम उनसे भयभीत हो जाते है और कभी उनका उपभोग करने लगते है। मछली की टोकनी यदि पास में न रहे तो नींद नहीं आएगी — यह जैसे उन मछली बेचनेवाली औरतों को हुआ था वैसा ही तुम लोगों को कहीं न हो: कुछ मछलीवाली सिर पर मछली की टोकनियाँ लेकर बाजार से घर लौट रही थीं। उसी समय खूब ज़ोर से वर्षा होने लगी। घर जाने में असमर्थ हो उन्होंने रास्ते में अपनी पहचान की एक मालिन के बगीचे में आश्रय लिया। मालिन ने रात में सोने के लिए जो कोठरी उन्हें दी ठीक उसके पास ही फूलों का बगीचा था। हवा के कारण बगीचे के सुन्दर सुन्दर फूलों की महक उन औरतों की नाक में आने लगी, किन्तु वह महक उनके लिए इतनी असह्य

हो उठी कि वे किसी तरह भी न सो सकीं। अन्त में उनमें से एक बोली—'आओ, हम मछली की टोकनियों में पानी डालकर सिर के पास रख लें।' वैसा करने पर जब उन टोकनियों से मछलियों की गन्ध उनकी नाक में आने लगी, तब वे आराम से खर्राटे भरने लगीं!

यह संसार भी उस मछली की टोकनी के समान है—हमें सुख-भोग के लिए उस पर निर्भर न रहना चाहिए। जो उस पर निर्भर रहते हैं, वे तामसप्रकृति अथवा बद्ध जीव हैं। उनके बाद राजस प्रकृति के लोग हैं; उनका अहंकार खूब प्रबल है, वे सर्वदा 'मैं-मैं' कहते रहते हैं। कभी कभी वे सत्कार्य भी करते है, चेष्टा करने पर वे धार्मिक हो सकते हैं। किन्तु सात्विक प्रकृति वाले ही सर्वश्रेष्ठ हैं, वे सर्वदा अन्तर्मुख और आत्मनिष्ठ रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में सत्त्व, रज और तमोगुण हैं। एक एक समय में मनुष्य मे एक एक गुण का प्राधान्य होता है।

सृष्टि का अर्थ किसी तरह का निर्माण या तैयारी करना नहीं है; सृष्टि का अर्थ है—जो साम्यभाव नष्ट हो गया है, उसी को पुनः प्राप्त करने की चेष्टा—जैसे यदि एक काग को टुकड़े टुकड़े कर उसे पानी के नीचे फेंक दें तो वे सब टुकड़े अलग अलग या एक साथ मिलकर पानी के ऊपर आने की चेष्टा करते है। जहाँ जीवन है, जहाँ जगत् है, वहाँ कुछ न कुछ बुरा, कुछ न कुछ अशुभ रहेगा ही। किंचित् अशुभ से ही जगत् की सृष्टि हुई है। जगत् में जो थोड़ी बहुत खराबी है, उसे अच्छा ही कहना चाहिये; क्योंकि साम्यभाव आने पर यह जगत् ही नष्ट हो जायगा। साम्य और विनाश दोनों एक ही हैं। जितने दिनों तक यह जगत् चल रहा है, उतने दिनों तक साथ ही साथ अच्छाई और

बुराई भी चलती रहेगी, किन्तु जब हम जगत् के परे चले जाते हैं, तब अच्छाई बुराई दोनों से अतीत हो जाते हैं अर्थात् परमानन्द प्राप्त कर लेते हैं।

जगत् में दुःखविरहित सुख, अशुभविरहित शुभ पाने की संभावना कदापि नहीं है; क्योंकि जीवन का अर्थ ही है साम्यभाव की विच्युति। हमें चाहिये मुक्ति; जीवन, सुख अथवा शुभ कुछ भी नहीं। सृष्टि-प्रवाह अनन्त काल से चल रहा है—न उसका आदि है, न अन्त—मानो वह एक अगाध उदधि के ऊपर की निरन्तर गतिशील तरंग के समान है। इस सागर में कुछ ऐसे गहरे स्थान हैं जहाँ हम अब भी नहीं पहुँचे हैं, और ऐसे भी कुछ स्थान हैं जहाँ साम्यभाव पुनः स्थापित हो चुका है, किन्तु ऊपर की सतह पर तरंग सर्वदा ही उठती रहती है, वहाँ पर अनंत काल से इस साम्यावस्था को प्राप्त करने की चेष्टा चलती ही रहती है। जीवन और मृत्यु एक ही वस्तु के विभिन्न नाम मात्र हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों ही माया है—यह अवस्था स्पष्ट रूप से समझी नहीं जा सकती—एक समय बचने की चेष्टा होती है, तो दूसरे ही क्षण विनाश या मृत्यु की। हमारा यथार्थ स्वरूप आत्मा इन दोनों से परे है। जब हम ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं तो ईश्वर, और कुछ नहीं, वास्तव में आत्मा ही है जिससे हमने अपने को अलग कर लिया है और जिसे हम अपने से अलग मानकर पूजते हैं; किन्तु वास्तव में यह उपासना उसी की है जो चिरकाल से एक मात्र ईश्वरपदवाच्य हमारा अन्तरात्मा ही है।

उस नष्ट साम्यावस्था को पुनः प्राप्त करने के लिये पहले हमें

रजस् द्वारा तमस् को और सत्व द्वारा रजस् को जीतना होगा। सत्व का अभिप्राय उस प्रकार की स्थिर, धीर, प्रशान्त अवस्था से है, जिसके धीरे धीरे बढ़ने पर अन्त में अन्यान्य भाव अर्थात् रजस् और तमस् सर्वथा लुप्त हो जाते हैं। बंधन काट डालो, मुक्त बनो, यथार्थ 'ईश्वर-तनय' बनो, तभी ईसा के समान पिता को देख सकोगे। धर्म और ईश्वर कहने से अनन्त शक्ति और अनन्त वीर्य समझा जाता है। दुर्बलता और दासत्व का त्याग करो। जब तुम मुक्तस्वभाव हो केवल तभी तुम आत्मा हो; यदि तुम मुक्तस्वभाव हो तभी अमृतत्व तुम्हारे करतलगत है; तभी ईश्वर वास्तव में हैं यदि वे मुक्तस्वभाव हैं।

जगत् मेरे लिये है, मैं जगत् के लिये कदापि नहीं हूँ! शुभ अशुभ सभी मेरे दास हैं; मैं उनका दास कदापि नहीं हूँ। जिस अवस्था में पड़ा है, उसी अवस्था में पड़े रहना पशु का स्वभाव है; मनुष्य का स्वभाव है—बुराई छोड़कर अच्छाई प्राप्त करने की चेष्टा करना; और अच्छाई-बुराई किसी के लिये भी चेष्टा न करना—सर्वदा सब अवस्थाओं में आनंदमय होकर रहना देवता का स्वभाव है। हमें देवता होना होगा। हृदय को समुद्र के समान महान् बना लो; संसार के क्षुद्र भावों के परे चले जाओ; इतना ही नहीं, अशुभ आने पर भी आनंद से उन्मत्त हो जाओ; जगत् को एक तस्वीर के समान देखो; यह जान लो कि जगत् में तुम्हें कोई भी वस्तु विचलित नहीं कर सकती; यही समझकर जगत् के सौन्दर्य का उपभोग करो। जगत् के सुख कैसे हैं, जानते हो?—जैसे छोटे छोटे लड़के खेल करते करते कीचड़ में कांच की माला पा जाते हैं। जगत् के सुख-दुःख के ऊपर शान्त भाव से दृष्टि-पात करो; अच्छा बुरा दोनों को एक दृष्टि से देखो—दोनों ही

भगवान् के खेल हैं, इसलिए अच्छा-बुरा, सुख-दु:ख सभी में आनन्द का अनुभव करो।

मेरे गुरुदेव कहते थे—"सभी नारायण हैं, किन्तु बाघ-नारायण से दूर रहना होता है; सभी जल नारायण हैं, तो भी गन्दा जल नहीं पिया जाता।"

"आकाशरूपी थाली में रवि-चन्द्र रूपी दीपक जलते हैं—फिर अन्य मन्दिरों की क्या आवश्यकता? सभी नेत्र तुम्हारे नेत्र हैं, फिर भी तुम्हें नेत्र नहीं हैं; सभी हाथ तुम्हारे हाथ हैं, फिर भी तुम्हें हाथ नहीं हैं।"*

कुछ पाने की चेष्टा मत करो, कुछ छोड़ने की भी चेष्टा न करो—त्याज्य और ग्राह्य—उभयवर्जित हो जाओ, यदृच्छालाभ से सन्तुष्ट बनो। जब कोई भी विषय तुम्हें विचलित नहीं कर सकेगा, तभी समझो कि तुमने मुक्ति या स्वाधीनता प्राप्त कर ली। केवल सहन करने से न होगा—बिलकुल अनासक्त बनो। उस साँड़ की कहानी मन में रखो जिसके सींग पर एक मच्छड़ बहुत समय तक बैठा रहा—इतनी देर बैठने के बाद उसकी औचित्य बुद्धि जागृत हो उठी; यह सोचकर कि सम्भव है साँड़ के सींग पर मेरे बैठने से उसे बहुत कष्ट हो रहा हो, वह साँड़ को सम्बोधित कर कहने लगा, "भाई साँड़! मैं बहुत देर से तुम्हारे सींग पर बैठा हुआ हूँ। मालूम होता है तुम्हें बहुत असुविधा हो रही है, मुझे क्षमा करना, यह लो, मैं उड़ जाता हूँ।" साँड़ बोला—"नहीं, नहीं, तुम सपरिवार आकर भी मेरे सींग पर निवास करो न। मेरा उससे कुछ न बिगड़ेगा।"

* अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।—श्वेताश्वतर उप., ३।१९

२६ जून, बुधवार

जब हमारा 'अहंज्ञान' नहीं रहता, तभी हम सर्वोत्तम कार्य कर सकते हैं, दूसरे को अपनी ओर सर्वापेक्षा अधिक आकृष्ट कर सकते हैं। बड़े बड़े प्रतिभाशाली सभी व्यक्ति इस बात को जानते हैं। ईश्वर ही एकमात्र यथार्थ कर्ता हैं — उनके समीप अपना हृदय खोल दो. तुम स्वयं कुछ भी करने मत जाओ। श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं — 'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।' — 'हे अर्जुन! त्रिलोक में मेरे लिए कर्तव्य नामक कुछ भी नहीं है।' उनके ऊपर सम्पूर्णतया निर्भर रहो, सम्पूर्ण रूप से अनासक्त होओ, ऐसा होने पर ही तुम्हारे द्वारा कुछ यथार्थ कार्य हो सकता है। जिस शक्ति के द्वारा ये सभी कार्य होते हैं, उसे तो हम देख नहीं पाते, हम तो केवल उसका फलमात्र देख पाते हैं।अहं को निकाल डालो, उसका नाश कर डालो, उसे भूल जाओ; अपने द्वारा ईश्वर को कार्य करने दो — यह तो उन्हीं का कार्य है, उन्हें ही करने दो। हमें और कुछ भी नहीं करना होगा — केवल स्वयं हटकर उन्हें काम करने देना होगा। हम जितने दूर हटते जायेंगे, ईश्वर उतने ही हमारे भीतर आयेंगे। 'कच्चे अहं' को नष्ट कर डालो — केवल 'पक्का अहं' रहने दो।

हम अभी जो कुछ हुए हैं, वह सब हमारे चिन्तन का ही फल है। इसलिए तुम क्या चिन्तन करते हो, इस विषय में विशेष लक्ष्य रखो। केवल मुख से बोलना तो गौण वस्तु है। चिन्तन ही बहुकाल-स्थायी है और उसकी गति भी बहु-दूरव्यापी है। हम जो कुछ चिन्तन करते हैं, उसमें हमारे चरित्र की छाप लग जाती है; इस कारण साधु-पुरुषों की हँसी या गाली में भी उनके हृदय का प्रेम और पवित्रता रहती है और उससे भी हमारा कल्याण ही होता है।

कुछ भी कामना मत करो। ईश्वर का चिन्तन करो, किन्तु किसी भी फल की कामना मत करो। जो कामनाशून्य होते हैं, उन्हीं का कार्य फलप्रद होता है। भिक्षाजीवी संन्यासी द्वार द्वार पर धर्म का सन्देश लेकर जाते है, किन्तु वे मन में सोचते है, हम कुछ भी नहीं करते। वे किसी प्रकार की अपनी अधिकार-सत्ता भी नहीं दर्शाते, उनका कार्य उनके अनजान में ही हो जाता है। यदि वे (ऐहिक) ज्ञानरूपी वृक्ष का फल * खायँ तो उन्हें अहंकार आ जाय, फिर वे जो कुछ लोककल्याण करेंगे—सब नष्ट हो जायगा। जब हम 'मैं मैं' कहते हैं, तब हम मूर्ख-से बन जाते हैं, और कहते जाते है—हमने 'ज्ञान' लाभ कर लिया है, किन्तु वास्तव में तो हम 'आँख बँधे बैल' के समान कोल्हू में ही लगातार घूमते रहते हैं। भगवान् खूब अच्छी तरह अपने को छिपाकर रखते हैं, इसीलिये उनका कार्य भी सर्वोत्तम है। इसी प्रकार जो अपने को सम्पूर्ण रूप से छिपाकर रख सकते हैं, वे ही सबकी अपेक्षा अधिक कार्य कर पाते हैं। पहले अपने को जीत लो, फिर सम्पूर्ण जगत् तुम्हारे पैरों के नीचे आ जायगा।

सत्त्व गुण में अवस्थित होने पर हम सभी वस्तुओं के असली रूप को देख पाते हैं, उस समय हम पञ्चेन्द्रियों और बुद्धि के अतीत प्रदेश में चले जाते हैं। 'अहं' ही वह वज्रदृढ प्राचीर है, जिसने हमें बद्ध कर रखा है—सत्य के मुक्त वायुमण्डल में वह हमें नहीं जाने

* बाइबिल में इस प्रकार वर्णन है:—ईश्वर ने आदम और हव्वा नामक प्रथम सृष्ट पुरुष और स्त्री को नन्दनवन में रख दिया और उनको वहाँ के ज्ञानवृक्ष का फल खाने के लिये मना कर दिया। किन्तु वे शैतान की प्रेरणा से उसे खाकर अपने पूर्व के निष्पाप स्वभाव से भ्रष्ट हो गये। यहाँ पर ज्ञान का अर्थ सुख-दुःख, अच्छा-बुरा आदि आपेक्षिक ज्ञान समझना चाहिये

देता — सभी विषयों में, सभी कार्यों में इसी से 'मैं मेरा' यह भाव आता है — हम सोचते हैं, मैं यह कार्य करता हूँ, वह कार्य करता हूँ, इत्यादि। इस क्षुद्र अहंभाव को दूर कर डालो, हममें यह जो अहंरूप पैशाचिक भाव रहता है, उसे बिलकुल नष्ट कर डालो। 'नाहं नाहं, त्वमेव त्वमेव' इस मन्त्र का उच्चारण करो, हृदय से उसे अनुभव करो, समग्र जीवन उससे अनुप्राणित कर दो। जब तक हम इस अहंभाव-गठित जगत् का परित्याग नहीं कर पाते, तब तक हम स्वर्ग-राज्य में कभी भी प्रवेश नहीं कर सकेंगे — न कोई कभी कर सका है और न कर सकेगा। संसार त्याग करने का अर्थ है — इस अहंभाव को बिलकुल भूल जाना, अहंभाव की ओर कभी भी ध्यान न देना; हम देह में वास कर सकते हैं, किन्तु इस तरह कि जिससे हम देह के ही न हो जायँ। इस दुष्ट अहंभाव को बिलकुल नष्ट कर डालना होगा। लोग जब तुम्हारी बुराई करें, तो तुम उन्हें आशीर्वाद दो; सोचकर देखो, वे तुम्हारा कितना उपकार करते हैं; अनिष्ट यदि किसी का होता है, तो केवल उनका अपना ही होता है। ऐसे स्थान पर जाओ, जहाँ लोग तुमसे घृणा करें; उन्हें तुम अपनी अहंता को मार मारकर अपने भीतर से बाहर निकाल फेंकने दो — ऐसा होने पर तुम भगवान् के अति सन्निकट पहुँच जाओगे। बंदरिया जैसे अपने बच्चे को गोद में दबाये रहती है, किन्तु अन्त में बाध्य होने पर उसको हटाकर फेंक देती है, उसे कुचल डालने में भी पीछे नहीं रहती उसी प्रकार हम भी संसार को जितने दिन तक सम्भव होता है, छाती से चिपकाये रहते हैं, किन्तु अन्त में जब हम उसे पददलित करने पर बाध्य होते हैं, तभी हम ईश्वर के समीप जाने के अधिकारी होते हैं। धर्म के लिये यदि

दूसरों का अत्याचार सहन करना पड़े तो हम धन्य हो जाएंगे; यदि हम लिखना पढ़ना न जानें तो हम धन्य हैं; क्योंकि ईश्वर के सान्निध्य से दूर करनेवाली अनेक बातें उससे कम हो जाती हैं।

भोग है लाख फनवाला साँप — हमें उसे कुचलना ही होगा। हम भोगों को त्यागकर अग्रसर होने लगें; कुछ भी न पाने पर संभव है हम निराश हो जायँ; किन्तु लगे रहो, लगे रहो — कभी छोड़ो मत। यह संसार एक पिशाच के समान है। यह संसार मानो एक राज्य है — हमारा क्षुद्र अहं मानो उसका राजा है। उसे दूर कर दृढ़ होकर खड़े हो जाओ। काम-कांचन, नाम-यश को छोड़कर दृढ़ भाव से ईश्वर की शरण लो, अन्त में हम सुख-दुःख में सम्पूर्ण उदासीनता लाभ करेंगे। इन्द्रियचरितार्थता ही सुख है — यह धारणा सम्पूर्ण जड़वादात्मक है। उसमें एक बिन्दुमात्र भी यथार्थ सुख नहीं है। उसमें जो कुछ सुख है, वह उस प्रकृत आनन्द का प्रतिबिम्ब मात्र है।

जिन्होंने ईश्वर के श्रीचरणों में आत्मसमर्पण किया है वे जगत् के लिये उन तथाकथित कर्मियों की अपेक्षा अनेक गुना अधिक कार्य करते हैं। जिसने स्वयं को सम्पूर्ण रूप से शुद्ध बना लिया है वह सैकड़ों धर्म-प्रचारकों की अपेक्षा अधिक कार्य करता है। चित्तशुद्धि और मौन से ही वाणी में शक्ति आती है।

कमल के सदृश बनो। कमल एक ही स्थान में रहता है, किन्तु जब विकसित हो उठता है, तब चारों ओर से मधुमक्खियाँ आप ही आप आकर जुटने लगती हैं।* श्रीयुत केशवचन्द्र सेन और श्रीरामकृष्ण

* अर्थात् साधन भजन करके अपना चरित्र उन्नत बनाओ। तुम्हारे ज्ञान और भक्ति की सुगन्धि से आकृष्ट होकर लोग स्वयं ही आकर तुमसे शिक्षा लेंगे। तुम्हें कहीं भी प्रचारार्थ जाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

के बीच विशेष प्रभेद था। श्रीरामकृष्ण देव जगत् में पाप या अशुभ नहीं देख पाते थे — वे जगत् में कुछ भी बुराई नहीं देख पाते थे, और वे उस बुराई को दूर करने के लिये चेष्टा करने का भी कोई प्रयोजन नहीं देखते थे। और केशवचन्द्र एक महान् धर्मसंस्कारक, नेता एवं भारतवर्षीय ब्राह्म समाज के प्रतिष्ठाता थे। बारह वर्ष की साधना के पश्चात् इन शान्तप्रकृति दक्षिणेश्वरवासी महापुरुष ने केवल भारत में ही नहीं, वरन् समग्र संसार के भावराज्य में भारी उथल-पुथल मचा दी। ये सभी नीरव महापुरुष वास्तव में महाशक्ति के आधार हैं — वे प्रेम में तन्मय होकर जीवन यापन करने के पश्चात् भव-रङ्गमञ्च से अदृश्य हो जाते हैं। वे कभी भी 'मैं मेरा' नहीं कहते। वे अपने को ईश्वर का यन्त्रस्वरूप समझकर ही अपने को धन्य मानते हैं। ऐसे व्यक्ति ईसा और बुद्ध आदि के जन्मदाता हैं। वे सदैव ईश्वर के साथ सम्पूर्णभाव से तादात्म्य लाभ करके इस वास्तव जगत् से बहुत दूर एक आदर्श जगत् में निवास करते हैं। वे कुछ नहीं चाहते और अहंभाव से कुछ भी नहीं करते। वे ही वस्तुतः जगत् के सभी प्रकार के उच्च भावों के प्रेरकस्वरूप हैं — वे जीवन्मुक्त एवं बिलकुल अहंशून्य हैं। उनका क्षुद्र अहंज्ञान पूर्ण रूप से नष्ट हो गया है, उन्हें नाम-यश की आकांक्षा बिलकुल नहीं है। उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से लुप्त हो गया है, वे निराकार तत्त्वस्वरूप हैं।

२७ जून, बृहस्पतिवार

(स्वामीजी आज बाइबिल का न्यू टेस्टामेन्ट लेकर आये तथा दूसरी बार बाइबिल में से जॉन का ग्रन्थ पढ़कर व्याख्या करने लगे।)

मुहम्मद इस बात का दावा करते थे कि वे वही शान्तिदाता

हैं जिन्हें भेजने का ईसा मसीह ने वचन दिया था। उनके मत से इस बात को स्वीकार करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है कि ईसा मसीह का अलौकिक भाव से जन्म हुआ था। सभी युगों में, सभी देशों में इस प्रकार का दावा देखने में आता है। सभी बड़े लोगों ने दावा किया है कि उनका जन्म देवता से हुआ है।

ज्ञान आपेक्षिक मात्र है। हम ईश्वर हो सकते हैं, किन्तु उन्हें कभी जान नहीं सकते। ज्ञान एक निम्नतर अवस्था मात्र है। तुम्हारे बाइबिल में भी है, आदम ने जब ज्ञानलाभ किया उसी समय उनका पतन हो गया। उससे पहले वे स्वयं सत्यस्वरूप, पवित्रतास्वरूप एवं ईश्वरस्वरूप थे। हमारा मुख हमसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है, किन्तु हम कभी भी असली मुख को देख नहीं पाते, हम केवल उसका प्रतिबिम्ब ही देख सकते हैं। हम स्वयं प्रेमस्वरूप हैं, किन्तु जब हम इस प्रेम के सम्बन्ध में सोचने लगते है, तो देखते हैं कि हमें एक कल्पना का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है; इसीसे यह प्रमाणित होता है कि हम जिसे जड़ कहते हैं, वह तो चित् की बहिरभिव्यक्ति मात्र है।

निवृत्ति का अर्थ है संसार से अलग हो जाना। हिन्दुओं के पुराण में है, प्रथम सृष्ट चार ऋषियों को+ हंस रूपी भगवान् ने शिक्षा दी थी कि जगत्-प्रपञ्च गौणमात्र है; इसलिये उन्होंने प्रजासृष्टि नहीं की। इसका तात्पर्य यह है कि अभिव्यक्ति का अर्थ ही अवनति है; क्योंकि आत्मा को अभिव्यक्त करने जाओ तो यह अभिव्यक्ति शब्द के द्वारा साधित होती है और 'शब्द भाव को नष्ट कर डालता है'।*

+ सनक, सनातन, सनन्दन और सनत्कुमार।

* "The letter killeth."—बाइबिल, २ य करिन्थियन, ३ य अ., ६ ष्ठ श्लोक।

फिर भी तत्त्व जड़ावरण से आवृत हुए बिना नहीं रह सकता, यद्यपि हम जानते हैं कि अन्त में इस प्रकार के आवरण की ओर ध्यान रखते रखते हम असल को भी खो बैठते हैं। सभी बड़े बड़े आचार्य इस बात को जानते हैं और इसीलिये अवतारगण पुनः पुनः आकर हमें मूल तत्त्व समझा देते हैं और तत्कालोपयोगी उसका एक और नवीन आवरण दे जाते हैं। मेरे गुरुदेव कहते थे — धर्म एकमात्र है; सभी अवतार इस बात की शिक्षा दे गये हैं, किन्तु उस तत्त्व को प्रकाशित करने के लिये सभी को उसे कोई न कोई आकार देना पड़ा। इसलिये उन्होंने उसके पुरातन आकार को त्यागकर उसे नये आकार में हमारे सामने रखा है। जब हम नाम-रूप से, विशेषतः देह से मुक्त होते हैं, जब हमारे लिये भली बुरी किसी भी देह का प्रयोजन नहीं रहता, तभी हम बन्धनमुक्त हो सकते हैं। अनन्त उन्नति का अर्थ है अनन्त काल के लिये बन्धन; उसकी अपेक्षा सभी प्रकार की आकृति का ध्वंस ही वाञ्छनीय है। हमें सभी प्रकार की देह से ही नहीं वरन् देवता-देह से भी मुक्तिलाभ करना होगा। ईश्वर ही एकमात्र यथार्थ सत्यवस्तु हैं; दो सत्य पदार्थ एक साथ कभी नहीं रह सकते। एकमात्र आत्मा ही है और मैं ही वह हूँ।

शुभ कर्म का मूल्य केवल इतना ही है कि वह मुक्तिलाभ का सहायक है। उसके द्वारा कर्ता का ही कल्याण होता है, दूसरे का नहीं।

* * * *

ज्ञान का अर्थ है श्रेणीबद्ध करना — कुछ वस्तुओं को एक श्रेणी के भीतर लाना। हमने एक ही जाति के अनेक पदार्थों को देखा — देखकर उन सभों को कोई एक नाम दिया, इसी से हमारा मन शान्त हो

गया। हम केवल कुछ 'घटनाओं' या 'व्यापारों' का ही आविष्कार करते हैं, किन्तु 'कैसे' वे सब घटित होते हैं, यह नहीं समझ पाते। हम अज्ञान के ही कुछ विस्तृत क्षेत्र में और अधिक घूम फिरकर यह सोचने लगते हैं कि हमने सचमुच कुछ ज्ञान लाभ कर लिया है। इस जगत् में 'कैसे' का कुछ भी उत्तर नहीं हो सकता। 'कैसे' का उत्तर पाने के लिये हमें भगवान् के समीप जाना होगा। जो सभी के ज्ञाता हैं, उन्हें कभी भी प्रकाशित नहीं किया जा सकता। यह ऐसा ही है, जैसे नमक का पुतला समुद्र की गहराई नापने चला—जैसे ही उसने प्रवेश किया, वैसे ही गलकर वह समुद्र में मिल गया।

वैषम्य ही सृष्टि का मूल है—एकरसता या साम्य ही ईश्वर है। इस वैषम्य भाव के परे चले जाओ; ऐसा करने पर ही जीवन और मृत्यु दोनों को जीत लोगे एवं अनन्त समत्व में पहुँच जाओगे। तभी तुम ब्रह्म में प्रतिष्ठित होगे, स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाओगे। मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करो, उसमें प्राण जायँ, वह भी स्वीकार करो। एक पुस्तक के साथ उसके पृष्ठों का जो सम्बन्ध है, वही हमारे साथ हमारे जन्मों का भी है; किन्तु हम अपरिणामी, साक्षिस्वरूप और आत्मस्वरूप हैं; और इसी आत्मा के ऊपर जन्म-जन्मान्तर की छाया पड़ती है, जैसे एक मशाल को खूब ज़ोर ज़ोर से घुमाओ तो नेत्र के सामने वृत्ताकार प्रतीत होने लगता है। आत्मा में ही समस्त व्यक्तित्व का एकत्व है; और चूँकि आत्मा अनन्त, अपरिणामी और अचंचल है, अतः आत्मा ब्रह्मस्वरूप है। आत्मा को जीवन नहीं कहा जा सकता, किन्तु उससे समुदय जीवन गठित होता है; उसे सुख नहीं कहा जा सकता, किन्तु उससे ही सुख की उत्पत्ति होती है।

*   *   *   *

आजकल संसार के लोग भगवान् को छोड़ रहे हैं, क्योंकि उनकी धारणा है — जगत् में सुख-स्वच्छन्दता का जितना विधान करना उचित है, उतना वे (भगवान्) नहीं कर रहे हैं; इसलिये वे कहते हैं — "उनसे हमें क्या लाभ है?" क्या हमें ईश्वर का 'चिन्तन' केवल एक म्युनिसिपैल्टी के अध्यक्ष के रूप में करना होगा?

हम इतना तो कर सकते हैं कि हम अपनी सभी वासना, ईर्ष्या, घृणा और भेदबुद्धि दूर कर दें। 'कच्चे अहं' को नष्ट कर डालना होगा, मन को विनष्ट कर देना होगा — यह मानो एक प्रकार की मानसिक आत्महत्या ही है। शरीर और मन को पवित्र और स्वस्थ रखो — किन्तु केवल ईश्वरलाभ करने के यन्त्रस्वरूप में; इतना ही उनका एकमात्र यथार्थ प्रयोजन है। केवल सत्य के लिये ही सत्य का अनुसन्धान करो; इस बात को मत सोचो कि उसके द्वारा आनन्दलाभ होगा। आनन्द स्वयं आ सकता है, किन्तु इसलिये उसे अपने सत्यलाभ का प्रेरक मत बनाओ। ईश्वरलाभ को छोड़कर और किसी प्रकार का उद्देश्य मत रखो। सत्यलाभ करने के लिये यदि नरक होकर जाना पड़े तो भी पीछे मत हटो।

२८ जून, शुक्रवार

[आज हम सब लोग स्वामीजी के साथ एक स्थान में वनभोजन के लिये गये। जहाँ कहीं स्वामीजी रहते थे, वहीं उनका लगातार उपदेश चलता था और उसके नोट्स लिये जाते थे, किन्तु आज के उपदेश नहीं लिखे गये।

परन्तु बाहर निकलने के पहले सबेरे जलपान के समय उन्होंने निम्नलिखित बातें कहीं —]

सभी प्रकार के अन्न के लिये भगवान् के प्रति कृतज्ञ होओ — अन्न ब्रह्मस्वरूप है। उनकी सर्व-व्यापिनी शक्ति ही हमारी व्यष्टिशक्ति में परिणत होकर हमारे सभी प्रकार के कार्य करने में सहायक होती है।

२९ जून, शनिवार

(आज स्वामीजी गीता हाथ में लेकर उपस्थित हुए।)

गीता में हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों के अथवा इन्द्रिययुक्त जीवात्मागण के ईश्वर, गुडाकेश अर्थात् निद्रा के अधीश्वर अथवा निद्राजयी अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं। यह जगत् ही 'धर्मक्षेत्र' कुरुक्षेत्र है। पञ्च पाण्डव (अर्थात् धर्म) शत कौरवों के साथ (हम जिन सभी विषयों में आसक्त रहते हैं और जिनके साथ हमारा सतत विरोध चलता रहता है) युद्ध कर रहे हैं। पञ्च पाण्डवों के मध्य सर्वश्रेष्ठ वीर अर्जुन (अर्थात् प्रबुद्ध जीवात्मा) सेनापति हैं। हमें समस्त इन्द्रियसुखों के साथ — जिन सभी वस्तुओं में हम अत्यन्त आसक्त हैं उनके साथ — युद्ध करना होगा, उन्हें मार डालना होगा। हमें निःसङ्ग होकर खड़े होना होगा। हम ब्रह्मस्वरूप हैं इस भाव के द्वारा हमें अन्य सब भावों को नष्ट कर देना होगा।

श्रीकृष्ण सब प्रकार के कर्म करते थे, किन्तु सभी प्रकार की आसक्ति से रहित होकर। वे संसार में थे अवश्य, किन्तु कभी भी संसारी नहीं होते थे। सभी कर्म करो, किन्तु अनासक्त होकर करो; कर्म के लिये ही कर्म करो; अपने लिये कभी मत करो।

कोई भी नामरूपात्मक पदार्थ कभी भी मुक्तस्वभाव नहीं हो सकता। मिट्टी से जैसे नामरूप के द्वारा घटादि होते हैं, उसी तरह उन मुक्तस्वभाव ब्रह्म से नामरूप के द्वारा हम लोग हुए हैं। वे ही मुक्तस्वभाव ब्रह्म ससीम या बद्धभावापन्न हो जाते हैं; इसलिये आपेक्षिक सत्ता को कभी भी मुक्तस्वभाव नहीं कहा जा सकता। घट जब तक घट है, तब तक अपने को कभी भी मुक्त नहीं कह सकता, जब वह नामरूप से अतीत हो जाता है, तभी मुक्त हो जाता है। समग्र जगत् ही आत्मस्वरूप है — यही आत्मा विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त है, जैसे एक सुर से अनेक प्रकार के सुरों की अभिव्यक्ति। यदि ऐसा न हो तो सभी एक ही प्रकार के हो जायँ, सभी एकसुरे हो जायँ। समय समय पर बेसुर बजता है अवश्य, परन्तु बाद में परवर्ती सुरों का ऐक्य तो और भी मधुर लगता है। महान् विश्व-संगीत में तीन भावों का विशेष प्रकाश दिखाई देता है—साम्य, बल और स्वाधीनता।

यदि तुम्हारी स्वाधीनता के कारण दूसरे की कुछ क्षति होती है, तो तुम्हें समझना होगा कि वह वास्तविक स्वाधीनता नहीं है। दूसरे की किसी प्रकार की क्षति कभी मत करो।

मिल्टन कहते हैं — "दुर्बलता ही दुःख है।" कर्म और फलभोग — इन दोनों का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। (अधिकतर देखा जाता है कि जो अधिक हँसता है, उसीको उतना रोना होता है — जितनी हँसी उतना रोना।) "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" — कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, फल में नहीं।

स्थूल दृष्टि से देखने पर कुचिन्ताओं को रोगबीजाणु कहा जा सकता है। हमारा शरीर मानो एक लोहपिण्ड है और हमारी प्रत्येक चिन्ता मानो धीरे धीरे उसके ऊपर हथौड़ी की चोट मारना है — उसके द्वारा हम अपने शरीर का गढ़न इच्छानुसार करते हैं।

हम जगत् की सम्पूर्ण शुभ चिन्ताओं के उत्तराधिकारी-स्वरूप हैं — किन्तु हमें उन सभों को अपने भीतर अबाधित रूप से आने देना चाहिये।

शास्त्र तो सब हमारे ही भीतर हैं। "मूर्ख, क्या तुम सुन नहीं पाते हो कि तुम्हारे हृदय के भीतर दिनरात वही अनंत संगीत ध्वनित हो रहा है — सच्चिदानन्दः सच्चिदानन्दः, सोऽहं सोऽहं?"

हममें से प्रत्येक के भीतर — क्या क्षुद्र पिपीलिका और क्या स्वर्ग के देवता — सभी के भीतर अनन्त ज्ञान का स्रोत विद्यमान है। यथार्थ धर्म एकमात्र है; हम उसके विभिन्न रूपों को लेकर, उसके विभिन्न प्रतीकों को लेकर और उसके विभिन्न प्रकाशों को लेकर व्यर्थ में झगड़ा करके मरते रहते हैं। जो यह जानता है कि किस प्रकार खोजना चाहिये उसके पास सत्ययुग तो वर्तमान ही रहता है। हम स्वयं नष्ट हो गये हैं, इसलिये जगत् को नष्ट समझते हैं।

इस जगत् में पूर्ण शक्ति का कोई कार्य नहीं रहता; उसे केवल 'अस्ति' या 'सत्' मात्र कहा जाता है, उसका कोई कार्य नहीं रहता।

यथार्थ सिद्धिलाभ तो एक ही प्रकार का है, किन्तु आपेक्षिक सिद्धि अनेक प्रकार की हो सकती है।

३० जून, रविवार

किसी एक कल्पना का आश्रय लिए बिना चिन्ता करने की चेष्टा और असम्भव को सम्भव करने की चेष्टा — एक ही बात है।

स्तन्यपायी किसी जीवविशेष का उदाहरण लिये बिना स्तन्यपायी जीव की किसी प्रकार की धारणा हम नहीं कर सकते। ईश्वर की धारणा के सम्बन्ध में भी यही बात है।

जगत् में जितने प्रकार का भाव या धारणा है, उसका जो सूक्ष्म सार-निष्कर्ष है, उसीको हम ईश्वर कहते हैं।

प्रत्येक चिन्ता के दो भाग हैं — एक है भाव और दूसरा है उसी भाव का द्योतक 'शब्द' — हमें इन दोनों को ही लेना होगा। क्या विज्ञानवादी (Idealist), क्या जड़वादी (Materialist) किसी का भी मत शुद्ध सत्य नहीं है। हमें भाव और उसका प्रकाश दोनों ही लेने होंगे।

हम दर्पण में अपना मुख देख पाते हैं — समुदय ज्ञान भी उसी प्रकार का है — बाहर में जो प्रतिबिम्बित है उसीका ज्ञान होता है। कोई कभी अपनी आत्मा या ईश्वर को नहीं जान सकता, किन्तु हम स्वयं ही वह आत्मा हैं, हमीं ईश्वर हैं

तुम्हें तभी निर्वाण अवस्था प्राप्त होगी, जब तुम्हारा 'अहं' पूर्ण रूप से नष्ट हो जायगा। बुद्धदेव ने कहा है — "जब 'अहं' बिलकुल नहीं रहेगा (अर्थात् जब कच्चा अहंभाव चला जायगा) तभी तुम्हें यथार्थ अवस्था प्राप्त होगी — तभी तुम्हें सर्वोच्च अवस्था का लाभ होगा।"

अधिकांश लोगों में वही आभ्यन्तरीण ईश्वरीय ज्योति आवृत एवं अस्पष्ट होकर रहती है जैसे एक लोहे के पीपे के भीतर प्रदीप रखा रहता है, पर उस प्रदीप की थोड़ी सी भी ज्योति बाहर नहीं आ पाती। पवित्रता एवं निःस्वार्थता का थोड़ा थोड़ा अभ्यास करते करते हम

इस बीच वाले आवरण को खूब पतला कर सकते हैं। अन्त में वह काँच के समान पारदर्शी हो जाता है। श्रीरामकृष्ण में मानो यह लोहे का पीपा काँच के रूप में परिणत हो गया है। उसके भीतर से वह आभ्यन्तरीण ज्योति ठीक ठीक दिखाई देती है। हम सभी कभी न कभी ऐसे ही काँच के पीपे हो जाएंगे——इतना ही नहीं, उसकी भी अपेक्षा उच्च उच्च विकास के आधारस्वरूप होंगे। किन्तु जब तक कोई 'पीपा' रहता है, तब तक उसे जड़ उपायों की सहायता से ही चिन्तन करना पड़ता है। धैर्यहीन व्यक्ति कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता।

* * * *

बड़े बड़े साधुपुरुष आदर्श तत्त्व (Principles) के दृष्टान्त-स्वरूप हैं; किन्तु शिष्यगण तो कभी कभी व्यक्ति को ही आदर्श या तत्त्व बना लेते हैं और उस व्यक्तिविशेष को ही सब कुछ समझकर तत्त्व को भूल जाते हैं।

सगुण ईश्वर के विरुद्ध बुद्ध के लगातार तर्क करने के फल-स्वरूप भारत में प्रतिमापूजा का सूत्रपात हुआ! वैदिक युग में प्रतिमा का अस्तित्व नहीं था, उस समय लोगों की यही धारणा थी कि ईश्वर सर्वत्र विराजमान हैं। किन्तु बुद्ध के प्रचार के कारण हम जगत्स्रष्टा एवं अपने सखास्वरूप ईश्वर को खो बैठे और उसके प्रतिक्रियास्वरूप प्रतिमा-पूजा की उत्पत्ति हुई। लोगों ने बुद्ध की मूर्ति गढ़कर पूजा करना आरम्भ किया। ईसा मसीह के सम्बन्ध में भी वैसा ही हुआ है। काठ-पत्थर की पूजा से लेकर ईसा और बुद्ध की पूजा तक सभी प्रतिमा-पूजा हैं; किसी न किसी प्रकार की मूर्ति के बिना हमारा काम चल ही नहीं सकता।

*   *   *   *

बलपूर्वक संस्कार की चेष्टा का फल यही होता है कि उससे संस्कार या उन्नति की गति रुक जाती है। किसी से ऐसा मत कहो कि 'तुम बुरे हो', वरन् उससे यह कहो—'तुम अच्छे हो, और भी अच्छे बनो।'

सभी देशों में पुरोहित अनिष्ट करते हैं; क्योंकि वे लोगों को गाली देते हैं और उनकी आलोचना करते हैं। वे एक डोरी को ठीक करने के लिये उसे खींचते हैं, किन्तु उससे दूसरी दो या तीन डोरियाँ स्थानभ्रष्ट हो जाती हैं। प्रेम में कभी गाली-गलौज नहीं होता, यह तो तभी होता है जब केवल प्रतिष्ठा की आकाङ्क्षा रहती है। न्याय-संगत क्रोध या वैध-हिंसा नाम की कोई वस्तु नहीं है।

यदि तुम किसी को सिंह नहीं होने दोगे, तो वह धूर्त श्रृगाल हो जायगा। स्त्री-जाति शक्ति-स्वरूपिणी है, किन्तु अब इस शक्ति का प्रयोग केवल बुरे विषयों में ही हो रहा है। इसका कारण यह है कि पुरुष स्त्रियों के ऊपर अत्याचार कर रहे हैं। आज स्त्रियाँ श्रृगाली के समान हैं, किन्तु जब उनके ऊपर और अधिक अत्याचार नहीं होगा, तब वे सिंहिनी होकर खड़ी होंगी।

साधारणत: धर्मभाव को विचारबुद्धि द्वारा नियमित करना उचित है। नहीं तो इस भाव की अवनति हो जाती है और वह भावुकता-मात्र में परिणत हो जाता है।

*   *   *   *

सभी आस्तिक व्यक्ति यह स्वीकार करते हैं कि इस परिणामी जगत् के पीछे एक अपरिणामी वस्तु है यद्यपि उस चरम वस्तु की

धारणा के सम्बन्ध में उनमें आपस में मतभेद है। बुद्धदेव इसे सम्पूर्ण-रूपेण अस्वीकार करते थे। वे कहते थे—"ब्रह्म या आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है।"

चरित्र की दृष्टि से बुद्धदेव संसार में सर्वापेक्षा महान् हैं। उनके बाद हैं—ईसा मसीह। किन्तु गीता में श्रीकृष्ण जो कह गये हैं, उसके समान महान् उपदेश जगत् में और कहीं नहीं है। जिन्होंने उस अद्भुत काव्य की रचना की थी, वे उन सब विरले महात्माओं में से एक थे जिनके जीवन द्वारा समग्र जगत् में एक एक नव जीवन का स्रोत प्रवाहित होता है। जिन्होंने गीता लिखी है उनके सदृश आश्चर्यजनक मस्तिष्क मनुष्य जाति और कभी नहीं देख पाएगी।

* * * *

जगत् में एकमात्र शक्ति ही विद्यमान है—वही कभी बुरे, कभी अच्छे भाव में अभिव्यक्त होती है। ईश्वर और शैतान एक ही नदी हैं—केवल दोनों की धारायें विपरीत दिशाओं में बहती हैं।

१ जुलाई, सोमवार

(श्रीरामकृष्ण देव)

श्रीरामकृष्णदेव के पिता अत्यन्त निष्ठावान् ब्राह्मण थे। वे सभी प्रकार के ब्राह्मणों का दान ग्रहण नहीं करते थे। जीविकोपार्जन के लिये सर्वसाधारण व्यक्ति के समान वे कोई काम भी नहीं कर सकते थे। पुस्तकें बेचना या किसी के यहाँ नौकरी करना तो दूर की बात है, किसी देवमन्दिर में पौरोहित्य करना भी उनके लिये सम्भव नहीं था। उनकी वृत्ति आकाशवृत्ति थी; जो अयाचित भाव से उपस्थित होता था उसी से उनके भोजन-वस्त्र का निर्वाह होता था; किन्तु वह

भी वे किसी पतित ब्राह्मण के पास से नहीं लेते थे। हिन्दूधर्म में देवमन्दिर का ऐसा कोई प्राधान्य नहीं है। चाहे सभी मन्दिर नष्ट हो जायँ, फिर भी धर्म की बिन्दुमात्र भी क्षति नहीं होगी। हिन्दुओं के मत में अपने लिये घर बनवाना स्वार्थपरायणता का कार्य है; केवल देवता और अतिथि के लिये ही घर बनवाया जा सकता है। इसी-लिये लोग भगवान् के निवासस्वरूप मन्दिर आदि का निर्माण करवाते हैं।

अपनी पारिवारिक अत्यधिक दु:स्थिति देखकर श्रीरामकृष्ण बहुत थोड़ी अवस्था में एक मन्दिर में पुजारी होने के लिये बाध्य हुए। मन्दिर में जगज्जननी की मूर्ति प्रतिष्ठित थी—उन्हें प्रकृति या काली भी कहा जाता है। एक स्त्रीमूर्ति एक पुरुषमूर्ति पर खड़ी हैं—इसका अर्थ यह है कि मायावरण को हटाये बिना हम ज्ञान लाभ नहीं कर सकते। ब्रह्म स्वयं स्त्री या पुरुष कुछ भी नहीं हैं—वे अज्ञात और अज्ञेय हैं। वे जब अपने को अभिव्यक्त करते हैं, तब अपने को माया के आवरण से आवृत कर जगज्जननी का स्वरूप धारण करते हैं और सृष्टिप्रपञ्च का विस्तार करते हैं। जो पुरुषमूर्ति शयनावस्था में हैं, वे शिव या ब्रह्म हैं, वे मायावृत होकर शव हो गये हैं। अद्वैतवादी या ज्ञानी कहते हैं—"मैं बलपूर्वक माया को हटाकर ब्रह्म को प्रकाशित करूँगा।" किन्तु द्वैतवादी या भक्त कहते हैं—"उन जगज्जननी से प्रार्थना करने पर वे द्वार छोड़ देंगी, तभी ब्रह्म प्रकाशित होंगे—उन्हीं के हाथ में चाभी है।

प्रतिदिन माँ काली की सेवा तथा पूजा-अर्चना करते करते इन तरुण पुरोहित के हृदय में क्रमश: ऐसी तीव्र व्याकुलता तथा भक्ति का उद्रेक हुआ कि वे फिर नियमित रूप से मन्दिर में पूजा आदि कार्य

नहीं कर सके। इसलिये वे उसे छोड़कर मन्दिर के अहाते के भीतर ही एक ओर एक छोटे से जंगल में जाकर दिनरात ध्यानधारणा करने लगे। वह जंगल ठीक गंगाजी के किनारे था; एक दिन गंगाजी की प्रबल धारा में ठीक एक कुटी के निर्माणोपयोगी सामग्री उनके पास बहकर आ गयी। उसी कुटीर में रहकर वे सर्वदा प्रार्थना करने और रोने लगे — जगन्माता को छोड़कर और किसी भी विषय की चिन्ता उन्हें नहीं रही, इतना ही नहीं, अपने शरीर की भी चिन्ता उन्हें नहीं रही। इस समय उनका एक आत्मीय प्रतिदिन मध्याह्न में एक बार उनको भोजन करा जाता था और उनकी देखरेख करता था। कुछ दिनों के बाद एक संन्यासिनी आकर उन्हें उनकी 'माँ' से मिलाने के लिये सहायता करने लगीं। उन्हें जिस प्रकार के गुरु की आवश्यकता होती थी, वे स्वयं उनके पास आकर उपस्थित हो जाते थे। सभी सम्प्रदाय के कोई न कोई साधु आकर उन्हें उपदेश देते थे और वे ध्यानपूर्वक सभी का उपदेश सुनते थे। परन्तु वे केवल उन जगन्माता की ही उपासना करते थे — वे सभी में जगन्माता को ही देखते थे।

श्रीरामकृष्ण ने कभी किसी के विरुद्ध कोई कड़ी बात नहीं कही। उनका हृदय इतना उदार था कि उनके बारे में सभी सम्प्रदाय सोचते थे कि वे उन्हीं के हैं। वे सभी से प्रेम करते थे। उनकी दृष्टि में सभी धर्म सत्य थे — वे कहते थे, धर्मजगत् में सभी धर्मों का स्थान है। वे मुक्तस्वभाव थे, किन्तु सर्वसाधारण के प्रति समान प्रेम में ही उनके मुक्तस्वभाव का परिचय पाया जाता था, वज्रवत् कठोरता में नहीं। इस प्रकार के कोमलहृदय व्यक्ति ही नूतन भाव की सृष्टि करते हैं और कर्मप्रवण लोग इस भाव को चारों ओर फैला देते हैं। सेन्ट

पॉल इस दूसरी कोटि के थे। इसीलिये उन्होंने सत्य का आलोक चारों ओर फैलाया था।

किन्तु अब सेन्ट पॉल का युग नहीं है। हमीं को आधुनिक जगत का नूतन आलोकस्वरूप होना होगा। हमारे युग का अब विशेष प्रयोजन है एक ऐसे संघ का निर्माण जो स्वयं अपने को देशकालोपयोगी बना लेगा। जब ऐसा होगा, तब वही जगत् का अन्तिम धर्म होगा। संसारचक्र चलेगा ही——हमें उसकी सहायता करनी होगी, बाधा देने से काम नहीं चलेगा। नानाविध धर्मभावरूपी तरङ्ग उठती हैं, गिरती हैं और उन सभी तरङ्गों के शीर्ष-प्रदेश में उसी युग के अवतार विराजते हैं। श्रीरामकृष्ण वर्तमान युग के उपयुक्त धर्म की शिक्षा देने आये थे जो विधायक है, न कि विध्वंसक। उन्हें अभिनव ढङ्ग से प्रकृति के समीप जाकर सत्य जानने की चेष्टा करनी पड़ी थी, फलस्वरूप उन्होंने वैज्ञानिक धर्म को प्राप्त कर लिया था। वह धर्म किसी को कुछ मान लेने को नहीं कहता है, स्वयं परख लेने को कहता है। "मैं सत्य का दर्शन करता हूँ, तुम भी इच्छा करने पर उसका दर्शन कर सकते हो।" मैंने जिस साधन का अवलम्बन किया है, तुम भी उसी का अवलम्बन करो, वैसा करने पर तुम भी हमारे सदृश सत्य का दर्शन करोगे। ईश्वर सभी के समीप आयेंगे——इस समत्व भाव को सभी प्राप्त कर सकेंगे। श्रीरामकृष्ण जो कुछ उपदेश दे गये हैं, वह सब हिन्दू धर्म का सारस्वरूप है, उन्होंने अपनी ओर से कोई नई बात नहीं कही है। और वे उन सब बातों को अपनी बतलाने का भी कभी दावा नहीं करते थे; वे नाम-यश के लिये किञ्चित् मात्र भी आकांक्षा नहीं रखते थे। उनकी अवस्था जब लगभग चालीस वर्ष की थी, तब उन्होंने

करना प्रारम्भ किया। किन्तु वे इस प्रचार के लिये कभी भी कहीं बाहर नहीं गये। जो उनके पास आकर उपदेश ग्रहण करने की इच्छा रखते थे उन्हीं की वे प्रतीक्षा करते थे।

हिन्दू समाज की प्रथा के अनुसार उनके मातापिता ने उनके यौवन काल के आरम्भ में पाँच वर्ष की एक छोटी लड़की के साथ उनका विवाह कर दिया था। विवाह के उपरान्त यह बालिका एक बड़े दूर ग्राम में अपने संबंधियों के साथ रहने लगी——वह यह नहीं जानती थी कि उसके तरुण पति कितनी कठोर साधनाओं के बीच से होकर ईश्वर के पथ में अग्रसर हो रहे थे। जब वह सयानी हुई उस समय उसका पति भगवत्प्रेम में तन्मय हो चुका था। वह पैदल ही अपने गाँव से दक्षिणेश्वर कालीमन्दिर में पति के समीप उपस्थित हुई। वह अपने पति को देखते ही उनकी वास्तविक अवस्था को समझ गई; क्योंकि वह स्वयं अत्यन्त विशुद्ध एवं उन्नत स्वभाव की थी। वह केवल अपने पति के कार्य में सहायता करने की ही इच्छुक थी; उसे कभी भी ऐसी इच्छा नहीं हुई कि वह अपने पति को गृहस्थ-जीवन की ओर खींच लावे।

श्रीरामकृष्ण भारत में महान् अवतारों में से एक अवतार माने जाकर पूजित हो रहे हैं। उनका जन्मदिन वहाँ पर एक धर्मोत्सव-रूप में मनाया जाता है।

*　　　*　　　*　　　*

एक विशिष्ट लक्षणयुक्त गोलाकार शिला विष्णु अर्थात् सर्वव्यापी भगवान् के प्रतीक-रूप में व्यवहृत होती है। प्रातःकाल पुरोहित आकर उस शालग्रामशिला की पुष्पचन्दन, नैवेद्य आदि के द्वारा पूजा करते

हैं, धूप कर्पूरादि के द्वारा आरती करते हैं, उसके बाद उन्हें सुलाकर उस प्रकार की पूजा के लिये उनके समीप क्षमा प्रार्थना करते हैं। ईश्वर के स्वरूपत: रूपविवर्जित होने पर भी वे इस प्रकार के प्रतीक या जड़वस्तु की सहायता के बिना उनकी उपासना नहीं कर पाते — इस दोष या दुर्बलता के लिये वे उनके निकट क्षमा प्रार्थना करते हैं। वे शिला को स्नान कराते हैं, कपड़ा पहनाते हैं और अपनी चैतन्यशक्ति के द्वारा उनकी प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं।

* * * *

एक सम्प्रदाय है, जो कहता है — भगवान् की केवल शिव और सुन्दर रूप में पूजा करना दुर्बलता मात्र है, हमें अशिव रूप से भी प्रेम करना होगा और उसकी पूजा करनी होगी। यह सम्प्रदाय तिब्बत देश में सर्वत्र विद्यमान है और उसके भीतर विवाह-प्रथा नहीं है। भारत में यह सम्प्रदाय प्रकट रूप में रह नहीं सकता, इसलिये वे गुप्त रूप में वहाँ अपना सम्प्रदाय चलाते हैं। कोई भी व्यक्ति बिना गुप्त रूप के इन सभी सम्प्रदायों में योग नहीं दे सकता। तिब्बत देश में तीन बार समाधिकारवाद* को कार्य में परिणत करने की चेष्टा की गई है, किन्तु प्रत्येक बार वह चेष्टा विफल हो गई। वे खूब तपस्या करते हैं और शक्ति (विभूति) लाभ की दृष्टि से उसमें खूब सफलता भी प्राप्त करते हैं।

'तपस्' शब्द का धात्वर्थ है ताप देना या उत्तप्त करना। यह हमारी उच्च प्रकृति को 'तप्त' या उत्तेजित करने की साधना या प्रक्रिया

* Communism — इस मत के अनुसार किसी की भी व्यक्तिगत सम्पत्ति का रहना उचित नहीं, सभी की साधारण सम्पत्ति होनी चाहिये।

विशेष है, उदाहरणार्थ, सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त पर्यंत ओंकार का लगातार जप करना। इन सभी क्रियाओं के द्वारा एक ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है, जिसे अपनी इच्छानुसार आध्यात्मिक या भौतिक, किसी भी रूप में परिणत किया जा सकता है। इस तपस्या का भाव समग्र हिन्दू धर्म में ओतप्रोत है। इतना ही नहीं, हिन्दू लोग कहते हैं कि ईश्वर को भी जगत् की सृष्टि करने के लिये तपस्या करनी पड़ी थी। यह मानो मानसिक यन्त्र विशेष है — इसके द्वारा सब कुछ किया जा सकता है। शास्त्र में कहा है — "त्रिभुवन में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो तपस्या के द्वारा पाया नहीं जा सकता।"

* * * *

जो लोग ऐसे सम्प्रदायों के मतामत या कार्यकलाप का दोषदृष्टि से वर्णन करते हैं, जिनके साथ उनकी सहानुभूति नहीं है, वे जान या अनजान में मिथ्यावादी हैं। जो सम्प्रदाय-विशेष में दृढ़ विश्वासी हैं वे प्रायः यह देख नहीं पाते कि दूसरे सम्प्रदाय में भी सत्य है।

* * * *

भक्तश्रेष्ठ हनुमान से एक बार पूछा गया था — "आज महीने की कौनसी तिथि है?" उन्होंने उत्तर दिया, "राम ही मेरे सम्बत्, तिथि आदि सब कुछ हैं। मैं और कोई तिथि आदि कुछ नहीं जानता।"

२ जुलाई, मंगलवार

(जगज्जननी)

जगत् की उस सर्वव्यापिनी शक्ति को 'माँ' कहकर शाक्त उसकी पूजा करते हैं — क्योंकि 'माँ' नाम की अपेक्षा अधिक मधुर और दूसरा नाम नहीं है। भारत में माता ही स्त्री-चरित्र का सर्वोच्च

आदर्श है। भगवान् की मातृरूप में तथा प्रेम के उच्चतम विकास रूप में पूजा करने को हिन्दू लोग दक्षिणाचार या दक्षिण मार्ग कहते हैं; इस उपासना से हमारी आध्यात्मिक उन्नति होती है, मुक्ति होती है—इसके द्वारा कभी भी ऐहिक उन्नति नहीं होती; और उसके भीषण रूप की अर्थात् रुद्रमूर्ति की उपासना को वामाचार या वाममार्ग कहते हैं। साधारणतः इसमें सांसारिक उन्नति खूब होती है, किन्तु आध्यात्मिक उन्नति विशेष रूप से नहीं होती। काल क्रम से अवनति होती है और जो जाति उसका साधन करती है उसका बिल्कुल ध्वंस हो जाता है।

जननी ही शक्ति का प्रथम विकासस्वरूप है और जनक के भाव की अपेक्षा जननी का भाव ही भारत में उच्चतर बताया गया है। 'माँ' नाम लेने से ही शक्ति का भाव, सर्वशक्तिमत्ता और दैवी शक्ति का भाव आ जाता है, जैसे शिशु अपनी माँ को सर्वशक्तिमती समझता है अर्थात् माँ सब कुछ कर सकती है। वह जगज्जननी भगवती ही हमारी आभ्यन्तरिक निद्रिता कुण्डलिनी हैं—उनकी उपासना किये बिना हम कभी भी अपने को पहचान नहीं सकते।

सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापिता और अनन्त दया उन्हीं जगज्जननी भगवती के गुण हैं। जगत् में जितनी शक्ति है, उसकी समष्टिस्वरूपिणी वही हैं। जगत् में जितना शक्ति का विकास देखा जाता है, सब वही जगदम्बा हैं। वही प्राणरूपिणी हैं, वही बुद्धिरूपिणी हैं, वही हैं प्रेमरूपिणी। वे समग्र जगत् के भीतर में विराजमान हैं, फिर भी वे जगत् से सम्पूर्ण पृथक् हैं। वे एक व्यक्ति रूप हैं—उनको जाना जा सकता है, देखा जा सकता है (जैसे श्रीरामकृष्ण ने उनको जाना

और देखा था)। उन जगन्माता के भाव में प्रतिष्ठित होकर हम जो चाहे कर सकते हैं। वे तुरन्त ही हमारी प्रार्थनाओं का उत्तर देती हैं।

वे जब चाहें किसी भी रूप में हमें दर्शन दे सकती हैं। उन जगज्जननी के नाम रूप दोनों रह सकते हैं, अथवा रूप के न रहने पर केवल नाम रह सकता है। उनकी इन सभी विभिन्न भावों में उपासना करते करते हम एक ऐसी अवस्था में पहुँचते हैं, जहाँ पर नाम रूप कुछ भी नहीं रहता, केवल शुद्ध सत्तामात्र विराजित रहती है।

जैसे किसी शरीरविशेष के समुदय कोष (Cells) मिलकर एक मनुष्य बनता है, उसी प्रकार प्रत्येक जीवात्मा मानो एक एक कोषस्वरूप है, एवं उन सबकी समष्टि ईश्वर हैं—और वह अनन्त पूर्ण तत्त्व (ब्रह्म) उससे भी अतीत है। समुद्र जब स्थिर रहता है, तब उसे कहा जाता है 'ब्रह्म', और उसी समुद्र में जब तरङ्ग उठती है, तब उसी को हम 'शक्ति' या 'माँ' कहते हैं। वह शक्ति या महामाया ही देशकाल निमित्त-स्वरूप हैं। वह ब्रह्म ही माँ है। उनके दो रूप हैं—एक सविशेष या सगुण, और दूसरा निर्विशेष या निर्गुण। प्रथम रूप में वे ईश्वर जीव और जगत् हैं, द्वितीय रूप में वे अज्ञात और अज्ञेय है। उस निरुपाधिक सत्ता से ही ईश्वर, जीव और जगत् यह त्रित्व भाव आता है। समस्त सत्ता—जो कुछ हम जान सकते हैं, सभी यह त्रिकोणात्मक है; यही विशिष्टाद्वैत भाव है।

उन्हीं जगदम्बा का एक कण, एक बिन्दु हैं कृष्ण, और एक कण बुद्ध, और एक कण ईसा मसीह। हमारी पार्थिव जननी में उन जगन्माता का जो एक कण प्रकाशित रहता है उसी की उपासना से महानता

का लाभ होता है। यदि परम ज्ञान और आनन्द चाहते हो, तो उन जगज्जननी की उपासना करो।

३ जुलाई, बुधवार

संक्षेप में कह सकते हैं, भय से ही मनुष्य के धर्म का प्रारम्भ होता है। "ईश्वरभीति ही ज्ञान का आरम्भ है।" किन्तु बाद में उससे यह उच्चतर भाव आता है कि "पूर्ण प्रेम के उदय होने पर भय दूर हो जाता है।" जब तक हम ज्ञान लाभ नहीं करते, जब तक ईश्वर क्या हैं, यह हम नहीं जान पाते, तब तक कुछ न कुछ भय रहेगा ही। ईसा मसीह मनुष्य थे, इसलिये वे जगत् में अपवित्रता देख पाते थे—और उसकी खूब निन्दा भी कर गये हैं। किन्तु ईश्वर अनन्त गुने श्रेष्ठ हैं, वे जगत् में कुछ भी अन्याय नहीं देख पाते हैं, इसलिये उन्हें क्रोध करने का भी कोई कारण नहीं है। अन्याय का प्रतिवाद या निन्दावाद कभी भी सर्वोच्च नहीं हो सकता। डेविड का हाथ रक्त से कलुषित था, इसलिये वह मन्दिर नहीं बनवा सका।

हमारे हृदय में प्रेम, धर्म और पवित्रता का भाव जितना बढ़ता जाता है, उतना ही हम बाहर में प्रेम, धर्म और पवित्रता देख सकते हैं। हम दूसरों के कार्यों की जो निन्दा करते हैं, वह वास्तव में हमारी अपनी ही निन्दा है। तुम अपने क्षुद्र ब्रह्माण्ड को ठीक करो जो तुम्हारे हाथ में है, वैसा होने पर बृहद् ब्रह्माण्ड भी तुम्हारे लिये आप ही आप ठीक हो जायगा। यह मानो जलस्थिति विज्ञान (Hydrostatics) की समस्या के समान है—एक बिन्दु जल की शक्ति से समग्र जगत् को साम्यावस्था में रखा जा सकता है। हमारे भीतर जो नहीं है, बाहर में भी हम उसे नहीं देख सकते। बृहत् इञ्जिन के सामने अत्यन्त छोटा

इञ्जिन जैसा है, समग्र जगत् की तुलना में हम भी वैसे ही हैं। छोटे इञ्जिन के भीतर कुछ गड़बड़ी देखकर, बड़े इञ्जिन के भीतर भी कोई गड़बड़ी है, ऐसी हम कल्पना करते हैं।

जगत् में जो कुछ यथार्थ उन्नति हुई है, वह प्रेम की शक्ति से ही हुई है। दोष बता बताकर कभी भी अच्छा काम नहीं किया जा सकता। हजार हजार वर्ष परीक्षा करके यह बात देखी जा चुकी है। निन्दावाद से कुछ भी फल नहीं होता।

यथार्थ वेदान्तिक को सभी के साथ सहानुभूति करनी होगी, क्योंकि, अद्वैतवाद या सम्पूर्ण एकत्व भाव ही वेदान्त का सार मर्म है। द्वैतवादी साधारणतः कट्टर होते हैं—वे सोचते हैं, उन्हीं का मार्ग एकमात्र मार्ग है। भारत में वैष्णव सम्प्रदाय द्वैतवादी है और वे लोग अत्यन्त कट्टर हैं। शैव भी एक और द्वैतवादी सम्प्रदाय है, उनमें घण्टाकर्ण नामक एक भक्त की कथा प्रचलित है। वह शिवजी का ऐसा कट्टर भक्त था कि, उसकी यह प्रतिज्ञा थी कि किसी दूसरे देवता का नाम कान से भी नहीं सुनूँगा। किसी देवता का नाम सुनना न पड़े, इस भय से वह अपने दोनों कानों में दो घण्टे बाँधे रहता था। उसकी प्रगाढ़ भक्ति से संतुष्ट होकर शिवजी ने सोचा कि हमें यह समझा देना उचित है कि शिव और विष्णु में कोई भेद नहीं। इस लिये उसके समक्ष अर्ध शिव, अर्ध विष्णु अर्थात् हरिहर रूप में वे प्रकट हुये। उस समय घण्टाकर्ण उनकी आरती कर रहा था। किन्तु उसकी ऐसी कट्टरता थी कि जब उसने देखा कि धूप की सुगन्ध विष्णुजी की नाक में जा रही है उसने उनकी नाक दबा दी।

मांस भोजी प्राणी, जैसे सिंह, एक आघात करने पर ही क्लान्त हो जाता है, किन्तु सहनशील बैल सारा दिन चलता रहता है, चलते चलते ही वह खा भी लेता है और निद्रा भी ले लेता है। चञ्चल, सदा क्रियाशील 'इयास्की' (मार्किन) भात खानेवाले चीनी कुलियों के साथ साथ काम नहीं कर पाते। जब तक क्षात्र शक्ति का प्राधान्य रहेगा, तब तक मांस भोजन प्रचलित रहेगा। किन्तु विज्ञान की उन्नति के साथ साथ लड़ाई-युद्ध जब कम हो जायँगे, उस समय निरामिष भोजियों का दल प्रबल होगा।

* * * *

जब हम भगवान् से प्रेम करते हैं, तब मानो हम अपने को दो भागों में विभक्त कर डालते हैं——हमीं अपनी अन्तरामा से प्रेम करते हैं। ईश्वर ने हमारी सृष्टि की है और हमने ईश्वर की। हम अपने भाव के अनुसार ईश्वर की सृष्टि करते हैं। हम ही ईश्वर को अपना प्रभु बनाने के लिये उनकी सृष्टि करते हैं, ईश्वर हमें अपना दास नहीं बनाते। जब हम जान लेते हैं कि हम ईश्वर के साथ अभिन्न हैं, ईश्वर हमारे सखा हैं, तभी वास्तविक साम्यावस्था प्राप्त होती है, तभी हमारी मुक्ति होती है। उस अनन्त पुरुष से जब तक तुम अपने को किंचित् भी पृथक् रखोगे, तब तक भय कभी भी दूर नहीं हो सकता।

भगवत्साधना करने पर, भगवान् से प्रेम करने पर जगत् का क्या कल्याण होगा——मूर्ख के समान ऐसा प्रश्न कभी मत करना। संसार की परवाह मत करो, भगवान् से प्रेम करो——और कुछ मत चाहो। केवल प्रेम करो और अन्य किसी वस्तु की प्रत्याशा मत रखो। प्रेम करो——और सब मतमतान्तर भूल जाओ। प्रेम का प्याला पीकर

पागल हो जाओ। बोलो, 'हे प्रभु, मैं तुम्हारा ही हूँ — चिरकाल के लिये तुम्हारा ही हूँ,' और सब कुछ भूलकर कूद पड़ो। प्रेम ही ईश्वर है। एक बिल्ली अपने बच्चों को प्यार करती है, आदर करती है — यह देखकर उस स्थान में खड़े हो जाओ, और ऐसे ही प्रेम से भगवान् की उपासना करो, उस स्थान में भगवान् का आविर्भाव हुआ है। यह अक्षरशः सत्य है; इस कथन में विश्वास करो। सर्वदा कहो, 'मैं तुम्हारा हूँ, तुम्हारा हूँ;' क्योंकि हम सर्वत्र भगवान् का दर्शन कर सकते हैं। उन्हें खोजने के लिये कहीं भी चक्कर मत काटो — वे तो प्रत्यक्ष हैं, उन्हें केवल देखते जाओ। "वही विश्वात्मा, जगज्ज्योति प्रभु सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें।"

* * * *

निर्गुण परब्रह्म की उपासना नहीं की जा सकती, इसलिये हमें अपने ही सदृश प्रकृति-सम्पन्न उनके प्रकाशविशेष की उपासना करनी होगी। ईसा हम लोगों के समान मनुष्य प्रकृति सम्पन्न थे — वे ख्रिस्त हो गये थे। हम भी उनके समान ख्रिस्त हो सकते हैं और हमें वह होना ही होगा। ख्रिस्त और बुद्ध अवस्थाविशेष का नाम है — जो हमें प्राप्त करनी होगी। ईसा और गौतम में ये अवस्थाएँ प्रकट हुई थीं। जगन्माता या आद्याशक्ति ही ब्रह्म का प्रथम और सर्वश्रेष्ठ प्रकाश है — उसके बाद ख्रिस्त और बुद्धगण उनसे प्रकाशित हुए हैं। हम स्वयं ही अपनी परिस्थिति का निर्माण कर अपने को बद्ध कर देते हैं और हम स्वयं ही इस जंजीर को तोड़कर मुक्त हो जाते हैं। आत्मा अभयस्वरूप है। जब हम अपनी आत्मा के बहिर्देश में अवस्थित ईश्वर की उपासना करते हैं, तब ठीक ही करते हैं, पर उस समय हम यह

नहीं जानते कि हम वास्तव में क्या कर रहे हैं। हम जब अपनी आत्मा का स्वरूप समझ पाते हैं, तभी इस रहस्य को जान पाते हैं। एकत्व ही प्रेम की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति है।

पर्शियानिवासी सूफ़ियों की एक कविता में है—"एक दिन ऐसा था, जब मैं नारी और वे पुरुष थे। दोनों के बीच प्रम बढ़ने लगा—अन्त में वे या मैं कोई भी नहीं रहा। अब केवल इतना ही अस्पष्ट रूप में स्मरण आता है कि एक समय दो पृथक् व्यक्ति थे; अन्त में प्रेम ने आकर दोनों को एक कर दिया।"*

ज्ञान अनादि अनन्त काल तक वर्तमान रहता है—ईश्वर जब तक हैं, ज्ञान भी तभी तक है। जो व्यक्ति किसी प्रकार के आध्यात्मिक नियम का आविष्कार करते है, उन्हीं को Inspired या प्रत्यादिष्ट पुरुष या ऋषि कहते हैं; वे जो कुछ प्रकाशित करते हैं, उसे Revelation या अपौरुषेय वाक्य कहते हैं। किन्तु इस प्रकार के अपौरुपेय वाक्य भी अनन्त हैं—यह नहीं कि अब तक जो कुछ हुआ, वहीं पर उनका अन्त हो गया है और अब अन्धभाव से उसी का अनुसरण करना पड़ेगा। हिन्दुओं के विजेताओं ने उनकी अनेक वर्षों तक समालोचना की जिससे उन्होंने (हिन्दुओं ने) अब स्वयं ही अपने धर्म की समालोचना करने का साहस किया और उससे वे उदारभावापन्न हो गये। उनके वैदेशिक शासनकर्ताओं ने अनजान में उनके पैरों की बेड़ियाँ तोड़ डाली

* श्री चैतन्य देव के साथ राय रामानन्द के कथोपकथन में भी इस भाव की कथा पाई जाती है—
ना सो रमण ना हम रमणी
दुहु मन मनोभव पेमल जानि, इत्यादि। —श्री चैतन्यचरितामृत।

हैं। हिन्दू लोग जगत् में सर्वापेक्षा धार्मिक जाति होते हुए भी वास्तव में भगवन्निन्दा या धर्म निन्दा क्या है, यह नहीं जानते। उनके मतानुसार भगवान् या धर्म के सम्बन्ध में किसी भी भाव से आलोचना करने से भी उससे पवित्रता और कल्याण प्राप्त होते हैं। और वे लोग अवतार या शास्त्र आदि के प्रति किसी प्रकार की कृत्रिम श्रद्धा या भक्ति नहीं प्रदर्शित करते।

ईसाई सम्प्रदाय ईसा को अपने मत के अनुसार गढ़ने की चेष्टा कर रहा है, किन्तु ईसाई जीवनादर्श के अनुसार गढ़ने की चेष्टा नहीं करता। इसीलिये ईसा सम्बन्धी जो ग्रन्थ उक्त सम्प्रदाय के सामयिक उद्देश्य सिद्ध करने में सहायक हुए थे, केवल उन्हीं ग्रन्थों को रखा गया था। अतः उन ग्रन्थों पर कभी भी निर्भर नहीं रहा जा सकता। और इस प्रकार के ग्रन्थ या शास्त्र की उपासना तो सबसे निकृष्ट पौत्तलिकता है — वह तो हमारे हाथ पैर को बिलकुल बाँध देती है, हमें पूर्ण रूप से आबद्ध कर रखती है। इनके मत में क्या विज्ञान, क्या धर्म, क्या दर्शन — सभी को इस शास्त्र का मतानुयायी होना होगा। प्रोटेस्टैन्टों का यह बाइबिल का अत्याचार सर्वापेक्षा भयानक अत्याचार है। ईसाई देशों में प्रत्येक के शिर पर एक विशाल गिर्जा का दबाव रहता है और उसके साथ एक धर्म ग्रन्थ, — किन्तु फिर भी वे लोग जीवित हैं, और उनकी उन्नति भी हो रही है। क्या इसीसे यह प्रमाणित नहीं होता कि मनुष्य ईश्वरस्वरूप है?

जीवों में मनुष्य ही सर्वोच्च जीव है और पृथ्वी ही सर्वोच्च लोक है। ईश्वर को मनुष्य की अपेक्षा बड़ा समझकर हम उनकी धारणा नहीं कर पाते; इसलिये हमारे ईश्वर भी मानवभावापन्न हैं — और

मानव भी ईश्वरस्वरूप है। जब हम मनुष्य भाव से ऊपर उठकर उससे अतीत किसी उच्चवस्तु का साक्षात्कार करते हैं, तब हमें इस जगत् को छोड़कर, देह, मन, कल्पना—इन सभों के भी परे जाना पड़ता है। जब हम उच्चावस्था प्राप्तकर वही अनन्त स्वरूप हो जाते हैं तब हम फिर इस जगत् में नहीं रहते। हमारे लिये इस जगत् को छोड़ अन्य किसी जगत् को जानने की सम्भावना नहीं है और मनुष्य ही इस जगत् की सर्वोच्च सीमा है। पशुओं के सम्बन्ध में हम जो कुछ जान पाते हैं, वह केवल सादृश्यमूलक ज्ञान है। हम स्वयं जो कुछ करते हैं अथवा अनुभव करते है उसी के द्वारा हम उनका विचार करते हैं।

समुदय ज्ञान की समष्टि सर्वदा ही समान रहती है—हाँ, कभी वह अधिक और कभी कम अभिव्यक्त होता है, बस् इतना ही। इस ज्ञान का एकमात्र स्रोत हमारे ही भीतर है और केवल वहीं यह ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

* * * *

समस्त काव्य, चित्र विद्या और संगीत भाषा, वर्ण और ध्वनि के द्वारा भाव की अभिव्यक्ति के और कुछ भी नहीं है।

* * * *

वे धन्य हैं, जो जल्दी जल्दी पापों का फल भोग लेते हैं—उनका हिसाब जल्दी जल्दी निपट गया। जिन्हें पाप का फल विलम्ब से मिलना है, उनका बड़ा दुर्भाग्य है—उन्हें बहुत अधिक भुगतना पड़ता है।

जिन्होंने समत्वभाव को प्राप्त कर लिया हैं, वे ही ब्रह्म में अवस्थित कहलाते हैं। सभी प्रकार की घृणा का अर्थ है आत्मा के द्वारा आत्मा का विनाश। इसलिये प्रेम ही जीवन का यथार्थ नियामक है। प्रेम की

अवस्था को प्राप्त करना ही सिद्धावस्था है; किन्तु हम जितना ही सिद्धि की ओर अग्रसर होते हैं, उतना ही हम कम कर्म (तथाकथित) कर पाते है। सात्विक व्यक्ति जानते हैं और देखते हैं कि सभी मानो लड़कों का खिलवाड़ मात्र है; इसलिये वे किसी भी बात के लिये चिन्तित नहीं होते।

एक आघात कर देना सरल है, किन्तु हाथ रोककर, स्थिर होकर 'हे प्रभु, मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ' यह कहना और 'वे चाहे जो कुछ करें' यह कहकर शान्त रहना बड़ा कठिन है।

[illegible] जुलाई, शुक्रवार

जब तक तुम सत्य के अनुसार किसी भी क्षण बदलने को प्रस्तुत नहीं होते, तब तक तुम सत्यलाभ कभी नहीं कर सकते; अवश्यमेव तुम्हें सत्य के अनुसन्धान में दृढ़ भाव से लगे रहना होगा।

*　　　*　　　*　　　*

चार्वाक के अनुयायियों का भारत में एक अत्यन्त प्राचीन सम्प्रदाय था। उसके अनुयायी पूर्ण रूप से जड़वादी थे। इस समय वह सम्प्रदाय लुप्त हो गया है और उसके अधिकांश ग्रन्थ भी लुप्त हो गये हैं। उसके मतानुसार आत्मा देह और भौतिक शक्ति से उत्पन्न होती है—इसलिये देह का नाश होने से आत्मा का भी नाश हो जाता है और देह नाश के बाद भी आत्मा का अस्तित्व है, इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। वह केवल इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार करता है—अनुमान द्वारा भी ज्ञान प्राप्त हो सकता है, इसे वह स्वीकार नहीं करता।

*　　　*　　　*　　　*

समाधि का अर्थ है—जीवात्मा और परमात्मा का अभेद भाव, अथवा समत्व भाव की प्राप्ति।

*　　*　　*　　*

जड़वादी कहते हैं, 'मैं मुक्त हूँ' यह ज्ञान भी भ्रम मात्र है। विज्ञानवादी कहते हैं, 'मैं बद्ध हूँ' यह ज्ञान उतना ही भ्रम पूर्ण है। वेदान्तवादी कहते हैं, तुम मुक्त और बद्ध दोनों हो। व्यावहारिक दृष्टि से तुम कभी भी मुक्त नहीं हो, किन्तु पारमार्थिक या आध्यात्मिक दृष्टि से तुम नित्य मुक्त हो।

मुक्ति और बन्धन दोनों के परे चले जाओ।

हम शिवस्वरूप, अतीन्द्रिय, अविनाशी ज्ञानस्वरूप हैं। प्रत्येक व्यक्ति के पीछे अनन्त शक्ति रहती है; जगन्माता की प्रार्थना करने से ही यह शक्ति तुम्हें प्राप्त होगी।

"हे माँ वागीश्वरी, तुम स्वयंभू हो, तुम मेरी जिह्वा पर वाक् रूप में आविर्भूत होओ!

"हे माँ, वज्र तुम्हारी वाणीस्वरूप है—तुम मेरे भीतर आविर्भूत होओ! हे काली, तुम अनन्त कालरूपिणी हो, तुम्हीं अमोघ शक्ति-स्वरूपिणी हो!"

६ जूलाई, शनिवार,

(आज स्वामीजी व्यासकृत वेदान्त सूत्र का शाङ्कर भाष्य लेकर उपदेश देने लगे।)

शंकर के मतानुसार जगत को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—अस्मद् (मैं) और युष्मद् (तुम)। और प्रकाश एवं अन्धकार जैसे सम्पूर्ण विरुद्ध पदार्थ हैं, ये दोनों भी वैसे ही हैं; इसलिये यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों में किसी एक से दूसरा उत्पन्न नहीं हो सकता। इस 'मैं' या विषयी के ऊपर 'तुम'

या विषय का अध्यास हुआ है। विषयी ही एकमात्र सत्य वस्तु है और दूसरा अर्थात् विषय आपात-प्रतीयमान सत्तामात्र है। इसके विरुद्ध मत अर्थात विषय सत्य और विषयी मिथ्या — कभी भी प्रमाणित नहीं किया जा सकता। जड़ पदार्थ और बहिर्जगत् आत्मा का ही अवस्था विशेष मात्र है। वास्तव में एकमात्र सत्ता ही विद्यमान है।

हमसे अनुभूत यह जगत् सत्य और मिथ्या के संमिश्रण से उत्पन्न है। जैसे बलसमान्तरिक चतुर्भुज * दो विभिन्न मुखी बलप्रयोग के फल से एक वस्तु में कर्णाभिमुखी गति की उत्पत्ति होती है, उसी तरह यह संसार भी हमारे ऊपर प्रयुक्त विभिन्न विरुद्ध शक्तिसमूह का फलस्वरूप है। यह जगत् ब्रह्मस्वरूप और सत्य है; किन्तु हम जगत् को उस भाव से नहीं देखते है; जिस तरह सुक्ति में रजत का भ्रम होता है, उसी तरह हमें भी ब्रह्म में जगत् का भ्रम होता है। इसी को कहते हैं अध्यास। जैसे पहले हमने एक दृश्य देखा था, अब उसी का स्मरण हुआ है। जो सत्ता एक सत्य वस्तु के अस्तित्व के ऊपर निर्भर रहती है, उसी को अध्यस्त सत्ता कहते हैं। यद्यपि उस समय के लिये वह सत्य प्रतीत होती है, किन्तु वस्तुतः वह सत्य नहीं है। अथवा अध्यास का दृष्टान्त दूसरे लोग इस प्रकार देते हैं, — उष्णता जल का धर्म नहीं है, परन्तु हम कल्पना कर लेते हैं कि जल उष्ण है। इसलिये अध्यास का अर्थ है 'अतस्मिन् तद्बुद्धिः' — जो वस्तु जैसी नहीं है, उसमें वैसी

* Parallelogram of forces — एक समान्तरिक क्षेत्र के मिले हुए दो बाहु यदि दो बलों की तीव्रता और गतिरेखा की सूचना करते हैं, तो उसके कर्ण द्वारा इन दो बलों के समवायजनित फल की तीव्रता और गतिरेखा निरूपित होती है।

बुद्धि का आरोप करना। अतएव यह स्पष्ट है कि हम जब जगत् देखते हैं, तब सत्य का ही दर्शन करते हैं, किन्तु बीच में एक आवरण पड़ा है जिसके कारण हम उसे विकृतरूप में देखते हैं।

स्वयं अपने को बाहर में प्रक्षिप्त किये बिना तुम कभी भी अपने को नहीं समझ सकते हो। भ्रान्ति अवस्था में हम अपने सामने की वस्तु को ही जो सत्य नहीं है, सत्य समझ बैठते है, किन्तु अदृष्ट वस्तु का, जो कि वास्तव में सत्य है, हमें सत्य रूप में अनुभव नहीं होता। इस प्रकार हम विषय को ही विषयी समझने की भूल करते हैं। किन्तु आत्मा कभी भी विषय नहीं होता। मन है अन्तःकरण या अन्तरिन्द्रिय, और सब बहिरिन्द्रियाँ उसी की यन्त्रस्वरूप हैं। विषयी में बहिः प्रक्षेप शक्ति (Objectifying Power) विद्यमान् है—इसीलिये वे 'मैं हूँ' इस प्रकार अपने को जान पाते हैं। किन्तु वह आत्मा या विषयी अपना ही विषय है, मन या इन्द्रियों का नहीं। फिर भी हम एक भाव (idea) का और एक भाव के ऊपर अध्यास कर पाते है; उदाहरणार्थ हम जब कहते हैं 'आकाश नीला है' तब इसमें आकाश एक भाव है और नीलत्व दूसरा भाव, और हम नीलत्व भाव का आकाश के ऊपर आरोप या अध्यास करते है।

विद्या और अविद्या या ज्ञान और अज्ञान—इन्हीं दोनों को लेकर जगत् है, किन्तु आत्मा कभी भी अविद्याच्छन्न नहीं होती। आपेक्षिक ज्ञान भी अच्छा है, क्योंकि वह उसी चरम ज्ञान में पहुँचने की सीढ़ी है। किन्तु इन्द्रियज ज्ञान या मानसिक ज्ञान, इतना ही नहीं, वेद प्रमाण जन्य ज्ञान भी कभी परमार्थ सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि ये सब आपेक्षिक ज्ञान की सीमा के भीतर हैं। पहले 'मैं देह हूँ'

इस भ्रम को दूर कर दो, तभी यथार्थ ज्ञान की आकांक्षा होगी। मानवीय ज्ञान पशुज्ञान की ही उच्चतर अवस्था मात्र है।

* * * *

वेद के एक अंश में कर्मकाण्ड—अनेकविध अनुष्ठानपद्धति, यज्ञयागादि—का उपदेश है। दूसरे अंश में ब्रह्मज्ञान और यथार्थ आध्यात्मिक धर्म का विषय वर्णित है। वेद का यही भाग आत्मतत्व के सम्बन्ध में उपदेश देता है और इसीलिये वेद के इस भाग का ज्ञान यथार्थ पारमार्थिक ज्ञान का अति समीपवर्ती है। उस अनन्त पूर्ण परब्रह्म का ज्ञान किसी शास्त्र के ऊपर या और किसी दूसरे के ऊपर निर्भर नहीं होता; यह ज्ञान स्वयं पूर्णस्वरूप है। अनेक शास्त्रों को पढ़ने से भी यह ज्ञान नहीं मिलता; यह कोई मत विशेष नहीं है, यह है अपरोक्षानुभूतिस्वरूप। दर्पण के ऊपर जो मैल जम गया है, उसे साफ कर डालो। अपने मन को पवित्र करो, ऐसा होने से उसी क्षण इस ज्ञान का उदय होगा कि तुम ब्रह्म हो।

केवल ब्रह्म ही है—जन्म नहीं, मृत्यु नहीं, दुःख नहीं, कष्ट नहीं, नरहत्या नहीं, किसी तरह का परिणाम नहीं, अच्छा भी नहीं, बुरा भी नहीं, सभी कुछ हमारे लिये रज्जु में सर्प-भ्रम के समान है—और यह भ्रम हमारा है। हम केवल तभी जगत् का कल्याण कर सकते हैं, जब हम भगवान् से प्रेम करते हैं और वे भी हमसे प्यार करते हैं। हत्याकारी व्यक्ति भी ब्रह्मस्वरूप है—उसके ऊपर हत्याकारी रूपी जो आवरण रहता है, वह तो उस पर अध्यस्त या आरोपित मात्र हुआ है। उसे धीरे धीरे, हाथ पकड़कर इस सत्य का ज्ञान करा दो।

आत्मा में किसी प्रकार का जातिभेद नहीं है; 'जातिभेद है'

यह भावना ही भ्रममात्र है। इसी प्रकार 'आत्मा का जीवन या मरण या कोई गति अथवा गुण है', यह भावना भी भ्रम है। आत्मा का कभी भी परिणाम नहीं होता। आत्मा न कभी कहीं जाती है, न आती है। वह अपने निजी समुदय प्रकाशों का अनन्त साक्षिस्वरूप है, किन्तु हम उन उन आपातप्रतीयमान प्रकाशों को ही आत्मा समझ बैठते हैं। यह एक अनादि अनन्त भ्रम अनन्त काल से चला आ रहा है। वेदों को हमारे स्तर पर आकर हमें उपदेश देना पड़ता है, क्योंकि यदि वेद उच्चतम सत्य को उच्चतम भाव या भाषा में हमारे लिए कहते तो हम वह समझ ही नहीं पाते।

स्वर्ग हमारी वासना से सृष्ट कुसंस्कार मात्र है और वासना चिरकाल के लिये बन्धन — अवनति का द्वारस्वरूप है। ब्रह्मदृष्टि को छोड़कर अन्य किसी भाव से किसी वस्तु को मत देखो। यदि ऐसा करोगे तो अन्याय और बुरा ही देखने में आयेगा; क्योंकि हम जिस वस्तु को देखने जाते हैं, उसके ऊपर एक भ्रमात्मक आवरण डाल देते हैं, और इसी कारण बुराई देखते हैं। इन सब भ्रमों से मुक्त हो जाओ और परमानन्द का उपभोग करो। सभी प्रकार के भ्रमों से मुक्त होना ही मुक्ति है।

एक दृष्टि से सभी मनुष्य ब्रह्म को जानते हैं; क्योंकि वे जानते हैं, 'मैं हूँ'; किन्तु मनुष्य अपना यथार्थ स्वरूप नहीं जानता। हम सभी जानते ह कि हम हैं, किन्तु कैसे हैं, यह नहीं जानते। अद्वैतवाद को छोड़कर अन्यान्य सभी व्याख्याएँ आंशिक सत्य मात्र हैं। किन्तु वेद का तत्व यह है कि हममें से प्रत्येक के भीतर जो आत्मा रहती है, वह ब्रह्मस्वरूप है। जगत्प्रपंच के भीतर जो कुछ है — सब जन्म,

वृद्धि, मृत्यु, उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय द्वारा सीमाबद्ध है। हमारी अपरोक्षानुभूति वेदों से भी अतीत है; क्योंकि वेदों का भी प्रामाण्य इस अपरोक्षानुभूति के ऊपर ही निर्भर है। सर्वोच्च वेदान्त है—प्रपंचातीत सत्ता का तत्वज्ञान।

सृष्टि का आदि है, यह कहने पर सभी प्रकार के दार्शनिक विचारों के मूल में कुठाराघात होता है।

जगत्प्रपंच के अन्तर्गत अव्यक्त और व्यक्त शक्ति को माया कहते हैं। जब तक वह मातृस्वरूपिणी महामाया हमें नहीं छोड़ देती, तब तक हम मुक्त नहीं हो सकते।

जगत् हमारे उपभोग के लिये पड़ा हुआ है; किन्तु कभी भी किसी वस्तु का अभावबोध मत करो। अभावबोध करना दुर्बलता है, अभावबोध ही हमें भिक्षुक बना डालता है। किन्तु हम क्या भिक्षुक हैं? हम हैं राजपुत्र!

७ जुलाई, रविवार (प्रातःकाल)

अनन्त जगत्प्रपंच के चाहे जितने भी भाग क्यों न करो वह अनन्त ही रहेगा और उसका प्रत्येक भाग भी अनन्त रहेगा।

परिणामी और अपरिणामी, व्यक्त और अव्यक्त—दोनों ही अवस्थाओं में ब्रह्म एक है। ज्ञाता और ज्ञेय को एक ही समझो। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—यही त्रिपुटी जगत्प्रपञ्चरूप में प्रकाशित हुई है। योगी ध्यान में जो ईश्वर का दर्शन करते हैं, वे अपनी आत्मा की शक्ति से ही कर पाते हैं।

हम जिसे स्वभाव या अदृष्ट कहते हैं, वह केवल ईश्वरेच्छा मात्र

है। जब तक भोगसुख खोजा जाता है, तब तक बन्धन रहता है। जब तक हम अपूर्ण हैं, तब तक भोग संभव है; क्योंकि भोग का अर्थ है — अपूर्ण वासना की परिपूर्ति। जीवात्मा प्रकृति का उपभोग करता है। प्रकृति, जीवात्मा और ईश्वर — इनके अन्तर्निहित सत्य हैं ब्रह्म। किन्तु जब तक हम उसे प्रकाशित नहीं करते, तब तक हम उसे नहीं देख पाते। जैसे घर्षण के द्वारा अग्नि उत्पन्न की जा सकती है, उसी प्रकार ब्रह्म को भी मन्थन द्वारा प्रकाशित किया जा सकता है। देह को नीचे की अरणि और प्रणव या ओंकार को ऊपर की अरणि समझो और ध्यान को मन्थन स्वरूप समझो।* इस प्रकार मन्थन करने पर आत्मा में जो ब्रह्मज्ञान रूपी अग्नि है वह प्रकाशित हो जायगी। तपस्या द्वारा यही करने की चेष्टा करो। देह को सरल भाव से रखकर इन्द्रियों की आहुति मन में दो। इन्द्रियों का केन्द्र भीतर है, बाहर में तो उनके यन्त्र या गोलक हैं। इसलिये बलपूर्वक मन में उनका प्रवेश करा दो। उसके बाद धारणा की सहायता से मन को ध्यान में स्थिर करो। जैसे दूध के भीतर सर्वत्र मक्खन रहता है, ब्रह्म भी उसी तरह जगत् में सर्वत्र विद्यमान है। किन्तु मन्थन द्वारा वह एक विशिष्ट स्थान में प्रकाशित होता है। जैसे मथने पर दूध का मक्खन ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार ध्यान के द्वारा आत्मा में ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है।†

---

* आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मन्थनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥ — ब्रह्मोपनिषद्।

† घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते वसति च विज्ञानम्।
सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन॥ — ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्, २०।

सब हिन्दू दर्शन कहते हैं कि हममें पाँच इन्द्रियों से अतिरिक्त एक छठी इन्द्रिय भी है। उसके द्वारा ही अतीन्द्रिय ज्ञान लाभ होता है।

*   *   *   *

जगत् एक अविराम गतिस्वरूप है और कुछ काल के बाद घर्षण (Friction) द्वारा सब का नाश हो जायगा; उसके बाद कुछ दिन रहने पर फिर उसी तरह सृष्टि का आरम्भ होगा।

उसी अवस्था में जब तक यह 'त्वगम्बर' मनुष्य को वेष्टित करके रखता है, अर्थात् जब तक वह अपने को देह के साथ अभिन्न मानता है, तब तक वह 'ईश्वर' को देख नहीं पाता।

रविवार, अपराह्न

भारत में छः दर्शनों को आस्तिक दर्शन कहा जाता है क्योंकि वे वेद में विश्वास करते हैं।

व्यास का दर्शन विशेषतया उपनिषदों पर प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार बीजगणित शास्त्र में अत्यन्त संक्षेप में कुछ अक्षरों की सहायता से भाव प्रकाशित किया जाता है, उसी प्रकार उन्होंने सूत्राकार में इसे लिखा है—उसमें कर्ता क्रिया आदि का व्यवहार लगभग नहीं के बराबर है। इस प्रकार की संक्षिप्त रचना के कारण व्यास सूत्र का अर्थ समझने में बहुत गड़बड़ी हुई। इस एक सूत्र से ही द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद एवं अद्वैतवाद या 'वेदान्त केशरी' की उत्पत्ति हुई। और इन सभी विभिन्न मतों के बड़े बड़े भाष्यकारों ने वेदों की अक्षर-राशियों के साथ अपने अपने दर्शन का मेल बैठाने के लिए समय समय पर जान-बूझकर मिथ्याभाषण भी किया है।

उपनिषद् में किसी व्यक्ति विशेष के कार्यकलाप का इतिहास

बहुत थोड़ा पाया जाता है, किन्तु प्राय: अन्यान्य सभी शास्त्र प्रधानत: किसी व्यक्ति विशेष के ही इतिहास हैं।

वेद में प्राय: केवल दार्शनिक तत्वों की ही आलोचना है। दर्शनवर्जित धर्म कुसंस्कार में और धर्मवर्जित दर्शन नास्तिकता में परिणत होता है।

विशिष्टाद्वैतवाद का अर्थ है—अद्वैतवाद, किन्तु विशेषयुक्त। उसके व्याख्याता हैं रामानुज। वे कहते हैं, "वेदरूपी क्षीर समुद्र का मन्थन करके व्यास ने मानव जाति के कल्याण के लिये इस वेदान्त दर्शन रूपी मक्खन को निकाला है।" वे यह भी कहते हैं, "जगत्प्रभु ब्रह्म अशेष-कल्याण-गुण समन्वित पुरुषोत्तम हैं।" मध्व पूर्णतया द्वैतवादी हैं। वे कहते हैं, "स्त्रियों को भी वेदपाठ करने का अधिकार है।" वे प्रधानत: पुराणों से अपने मत की स्थापना के लिये श्लोक उध्दृत करते हैं। वे कहते हैं, ब्रह्म का अर्थ विष्णु है—शिव नहीं; क्योंकि विष्णु को छोड़कर अन्य कोई भी मुक्तिदाता नहीं हैं।

८ जुलाई, सोमवार

मध्वाचार्य की व्याख्या के भीतर विचार का स्थान नहीं है—वे केवल शास्त्र प्रमाणों के आधार पर ही सब कुछ ग्रहण करते हैं।

रामानुज कहते हैं, वेद ही सर्वापेक्षा पवित्र पठनीय ग्रन्थ है। त्रैवर्णिक अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन उच्चवर्णों की संतानों को यज्ञोपवीत संस्कार के बाद अष्टम, दशम या एकादश वर्ष की अवस्था में वेदाध्ययन आरम्भ करना उचित है। वेदाध्ययन का अर्थ है गुरुगृह में जाकर नियमित स्वर और उच्चारण के सहित वेदों की शब्दराशि को आद्यन्त कण्ठस्थ करना।

जप का अर्थ है भगवान् के पवित्र नाम का बारम्बार उच्चारण। यह जप करते करते साधक क्रमशः उस अनन्त रूप में पहुँच जाता है। यागयज्ञादि तो मानो अदृढ़ नौका के समान हैं। ब्रह्मज्ञान के लिये इन यागयज्ञादि के अतिरिक्त और भी कुछ चाहिये; और ब्रह्मज्ञान ही मुक्ति है। मुक्ति और कुछ नहीं — अज्ञान का विनाश ही मुक्ति है; ब्रह्मज्ञान से ही इस अज्ञान का विनाश होता है। ऐसी बात नहीं है कि वेदान्त का तात्पर्य जानने के लिये ये सब यागयज्ञादि करने ही पड़ेंगे। केवल ओंकार जप करना ही पर्याप्त है।

भेद दर्शन ही समस्त दुःख का कारण है और अज्ञान ही इस भेद दर्शन का कारण है। इसी हेतु यागयज्ञादि अनुष्ठान का कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि वह भेद ज्ञान को और भी बढ़ा देता है। इन सब यागयज्ञादि का उद्देश्य कुछ भोग सुख लाभ करना — अथवा कुछ दुःखों से छुटकारा पाना है।

ब्रह्म निष्क्रिय है, आत्मा ही ब्रह्म है, एवं हम ही वह आत्मस्वरूप हैं — इस प्रकार के ज्ञान के द्वारा ही सारी भ्रान्तियाँ दूर हो जाती हैं। यह तत्व पहले सुनना होगा, बाद में मनन अर्थात् विचार द्वारा धारणा करनी होगी, अन्त में प्रत्यक्ष उपलब्धि करनी होगी। मनन अर्थात् विचार करना — विचार के द्वारा, युक्तितर्क के द्वारा, इस ज्ञान को अपने भीतर प्रतिष्ठित करना। प्रत्यक्षानुभूति और साक्षात्कार का अर्थ है — सर्वदा चिन्तन और ध्यान के द्वारा उसे अपने जीवन में अंगीभूत बना डालना। यह अविराम चिन्ता या ध्यान मानो एक पात्र से दूसरे पात्र में प्रक्षिप्त अविच्छिन्न तैलधारा के समान है। ध्यान दिनरात मन को इस भाव के बीच में रख देता है और उसके द्वारा

हमें मुक्तिलाभ करने में सहायता पहुँचाता है। सर्वदा 'सोऽहं' 'सोऽहं' यह चिन्ता करो—इस प्रकार की अविच्छिन्न चिन्ता प्रायः मुक्ति के समान है। दिनरात कहो—'सोऽहं' 'सोऽहं'। इस प्रकार सर्वदा चिन्तन करने से अपरोक्षानुभूति प्राप्त होगी। भगवान् का इस प्रकार तन्मय भाव से सदासर्वदा स्मरण करना ही भक्ति है।

सभी प्रकार के शुभकर्म भक्ति लाभ कराने में गौण भाव से सहायता करते हैं। शुभचिन्तन तथा शुभकार्य अशुभचिन्ता और अशुभ कर्म की अपेक्षा कम भेदज्ञान उत्पन्न करते हैं, इसलिये गौणभाव से ये मुक्ति की ओर ले जाते ह। कर्म करो, किन्तु कर्मफल भगवान् को समर्पित कर दो। केवल ज्ञान के द्वारा ही पूर्णता या सिद्धावस्था प्राप्त होती है। जो भक्तिपूर्वक सत्यस्वरूप भगवान् की साधना करते हैं, उनके निकट वही सत्यस्वरूप भगवान् प्रकाशित होते हैं।

* * * *

हम मानो प्रदीपस्वरूप हैं और इस प्रदीप के ज्वलन को ही हम जीवन कहते हैं। जब तेल आदि सामग्री समाप्त हो जायगी, तभी प्रकाश भी निवृत्त हो जायगा। हम केवल प्रदीप को साफ़ रख सकते हैं। जीवन केवल कुछ वस्तुओं का मिश्रणस्वरूप है, यह एक कार्य-स्वरूप है, इसलिये यह अवश्यमेव अपने उपादान कारणों में विलीन होगा।

९ जुलाई, मङ्गलवार

आत्मा की दृष्टि से मनुष्य वास्तव में मुक्त ही है, किन्तु मनुष्य की अपनी दृष्टि से वह बद्ध है। प्रत्येक भौतिक अवस्था द्वारा उसका परिवर्तन होता रहता है। मनुष्य की दृष्टि से उसे एक यन्त्रविशेष कहा जा सकता है, केवल उसके भीतर मुक्ति या स्वाधीनता का भाव

विद्यमान है, बस इतना ही। किन्तु जगत् के सभी शरीरों में यह मनुष्य शरीर ही सर्वश्रेष्ठ शरीर है तथा मनुष्य मन ही सर्वश्रेष्ठ मन है। जब मनुष्य आत्मोपलब्धि करता है, तब आवश्यकता के अनुसार वह कोई भी शरीर धारण कर सकता है; तब वह सभी नियमों के अतीत हो जाता है। यह प्रथमतः एक उक्तिमात्र है; इसे प्रमाणित करके दिखाना होगा। प्रत्येक व्यक्ति को इसे स्वयं प्रमाणित करके देखना होगा; हम अपने मन का समाधान कर सकते है, किन्तु दूसरों के मन का नहीं। धर्मविज्ञानों में एकमात्र राजयोग ही प्रमाणित किया जा सकता है, —और केवल उस बात की शिक्षा दी जा सकती है जिसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि की गई है। विचार शक्ति की सम्पूर्ण विकासप्राप्त अवस्था ही अपरोक्ष ज्ञान है, किन्तु वह कभी भी युक्तिविरोधी नहीं हो सकता।

कर्म के द्वारा चित्त शुद्ध होता है, इसलिये कर्म विद्या या ज्ञान का सहायक है। बौद्धों के मत में मानव और तिर्यग्जातियों का हित साधन ही एकमात्र कर्म है; ब्राह्मण या हिन्दुओं के मत में उपासना तथा सभी प्रकार के यज्ञयागादि अनुष्ठान भी ठीक वैसे ही कर्म हैं, एवं चित्तशुद्धि के सहायक स्वरूप हैं। शंकर के मतानुसार "सभी प्रकार के शुभाशुभ कर्म ज्ञान के प्रतिबन्धक हैं।" जो सभी कार्य अज्ञान की ओर ले जाते हैं, वे पाप हैं—साक्षात्सम्बन्ध से नहीं, किन्तु कारणस्वरूप से—क्योंकि उनके द्वारा रज और तम बढ़ जाते हैं। केवल सत्त्व के द्वारा ही ज्ञानलाभ होता है। पुण्य या शुभ कर्म क द्वारा ज्ञान का आवरण दूर होता है और केवल ज्ञान के द्वारा ही ईश्वरदर्शन होता है।

ज्ञान कभी भी उत्पादित नहीं किया जा सकता, उसका केवल

'हाशाशिन्'* शब्द से अंग्रेजी Assassin (हत्याकारी) शब्द आया है। मुसलमानों का एक प्राचीन सम्प्रदाय अविश्वासियों की अर्थात् मुसलमानों को छोड़कर अन्यधर्मावलम्बियों की हत्या करता था और इस कार्य को अपने धर्ममत का एक अंग मानता था। मुसलमान लोग उपासना के समय एक घड़ा जल सामने रखते हैं। ईश्वर सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हैं—इसी भाव का यह प्रतीकस्वरूप है।

* * * *

हिन्दू लोग दशावतार में विश्वास करते हैं। उनके मत में नौ अवतार हो गये हैं, दशम अवतार बाद में होंगे।

* * * *

यह प्रमाणित करने के लिये कि वेदों के सभी वाक्य उनके प्रचारित दर्शन के समर्थक हैं, शंकर को कूट तर्क का आश्रय लेना पड़ा। बुद्ध देव अन्य सभी धर्माचार्यों की अपेक्षा अधिक साहसी और निष्कपट थे। वे कह गये हैं, "किसी शास्त्र में विश्वास मत करो। वेद मिथ्या हैं। यदि मेरी उपलब्धि के साथ वेद मिलते जुलते हैं, तो वह वेदों का ही सौभाग्य है। मै ही सर्वश्रेष्ठ शास्त्र हूँ; यज्ञयाग और देवतोपासना में कोई फल नहीं है।" मनुष्य जाति के बीच बुद्धदेव ने ही जगत् को पहले पहल सर्वाङ्गसम्पन्न नीतिविज्ञान की शिक्षा दी थी। वे सज्जीवन

* यह धर्म सम्प्रदाय ग्यारहवीं शताब्दी में सीरिया में वर्तमान था। ये लोग अपने नेता के आदेशानुसार अत्यधिक गुप्तहत्या करते थे। 'हाशाशिन' शब्द का अर्थ 'हाशिश भक्षक' है। हाशिश एक प्रकार का मद्य है। इस सम्प्रदाय के हत्याकारी लोग इस मद्य का व्यवहार करके हत्याकार्य के लिये प्रस्तुत होते थे, इसलिये इनका उक्त नाम था।

के लिये ही महज्जीवन यापन करते थे, प्रेम के लिये ही प्रेम करते थे; उनका दूसरा उद्देश्य और कुछ भी न था।

शंकर कहते हैं, ब्रह्म का मनन करना होगा; क्योंकि वेद की आज्ञा है। विचार अतीन्द्रिय ज्ञान का सहायक है। वेद और स्वानुभूति, ये दोनों ही ब्रह्म के अस्तित्व के प्रमाण हैं। उनके मत में वेद एक प्रकार से अनन्त ज्ञान का साकार विग्रह स्वरूप हैं। वेदों का प्रामाण्य, इसलिये है कि वे ब्रह्म से प्रसूत हैं और ब्रह्म का प्रामाण्य इसलिये है कि वेद उनसे उत्पन्न हुए हैं। वेद सर्वविध ज्ञान की खानिस्वरूप हैं; और मनुष्य जैसे निश्वास के द्वारा वायु को बाहर प्रक्षिप्त करता है, उसी प्रकार वेद भी ब्रह्म के भीतर से प्रकाशित हुए है। इसीलिये हम समझ सकते हैं कि वे सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ हैं। वे जगत् की सृष्टि करते हों या न करते हों, उससे कुछ तात्पर्य नहीं, किन्तु उन्होंने जो वेदों को प्रकाशित किया है, यही बहुत बड़ी बात है। वेदों की सहायता से ही संसार को ब्रह्म के बारे में ज्ञान हुआ है—ब्रह्म को जानने का और दूसरा उपाय नहीं।

शंकर का यह मत अर्थात् वेद समुदय ज्ञान की खानि हैं, सम्पूर्ण हिन्दुजाति की मज्जा में इस तरह प्रविष्ट हो गया है कि उसमें यह एक कहावत हो गई है कि खोयी हुई गौ भी वेदों में पाई जा सकती है।

इसके अतिरिक्त शंकर यह भी कहते हैं कि कर्मकाण्ड का विधि-निषेध मानकर चलना ही ज्ञान नहीं है, ब्रह्मज्ञान किसी प्रकार के नैतिक नियम, यज्ञयागादि अनुष्ठान अथवा हमारे मतामत के ऊपर निर्भर नहीं है, वह इन सभों के परे है। यह ऐसा ही है जैसे एक स्थाणु को एक व्यक्ति भूत समझता है और दूसरा स्थाणु ही समझता

है, पर इससे स्थाणु का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, वह स्थाणु स्थाणु ही रहता है।

हमारे लिये वेदान्तवेद्य ज्ञान की विशेष आवश्यकता है; क्योंकि विचार या शास्त्र द्वारा हमें ब्रह्म की उपलब्धि नहीं हो सकती। समाधि के द्वारा उसकी उपलब्धि करनी होगी और वेदान्त ही इस अवस्था को पाने का उपाय दिखलाता है। हमें सगुण ब्रह्म या ईश्वर का भाव अतिक्रमण कर उस निर्गुण ब्रह्म में पहुँचना होगा। प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्म का अनुभव करता है; ब्रह्म छोड़कर अनुभव करने की दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। हमारे भीतर जो 'मैं' 'मैं' करता है, वही ब्रह्म है। किन्तु यद्यपि हम दिनरात उसका अनुभव करते रहते हैं, फिर भी हम यह जान नहीं पाते कि हम उसका अनुभव कर रहे हैं। जिस क्षण हम इस सत्य को समझ लेंगे, उसी क्षण हमारे सभी दुःख-कष्ट नष्ट हो जायँगे, इसलिये हमें यह सत्य जानना ही होगा। एकत्व-अवस्था को प्राप्त कर लो, ऐसा करने पर फिर द्वैतभाव नहीं आएगा। किन्तु यज्ञ-यागादि के द्वारा ज्ञानलाभ नहीं होता; आत्मा का अन्वेषण, उपासना और साक्षात्कार करने से ही वह ज्ञान प्राप्त होगा।

ब्रह्मविद्या ही परा विद्या है और अपरा विद्या है विज्ञान — मुण्डकोपनिषद् (संन्यासियों के लिये उपदिष्ट उपनिषद्) इस विषय का उपदेश देता है। विद्या दो प्रकार की है — परा और अपरा। वेदों के जिस अंश में देवतोपासना और नानाविध यज्ञयागादिकों का उपदेश है वह कर्मकाण्ड, तथा सर्वविध लौकिक ज्ञान ही अपरा विद्या है। जिसके द्वारा उस अक्षर पुरुष का लाभ होता है, वही परा विद्या है। वे अक्षर पुरुष अपने भीतर से ही सबकी सृष्टि करते

हैं—बाहर का दूसरा कोई भी उनके ऊपर कार्य नहीं करता। वह ब्रह्म ही समुदय शक्तिस्वरूप है, जो कुछ है सब ब्रह्म ही है। जो आत्मयाजी हैं, वे ही केवल ब्रह्म को जानते हैं। बाह्य पूजा को अज्ञानी लोग ही श्रेष्ठ मानते हैं; वे सोचते हैं कि कर्म के द्वारा हम ब्रह्म को प्राप्त कर सकते हैं। जो सुषुम्ना-वर्त्म में (योगियों के मार्ग में) गमन करते हैं, केवल वे ही आत्मलाभ करते हैं। इस ब्रह्मविद्या की शिक्षा पाने के लिये गुरु के पास जाना होगा। जो समष्टि में है वही व्यष्टि में भी है; सब कुछ आत्मा से ही प्रसूत हुआ है। ओंकार मानो धनुष है, आत्मा शर है और ब्रह्म लक्ष्य। स्थिर और शान्त भाव से उसे वेधना होगा। उसमें लीन होकर एक हो जाना होगा।* ससीम अवस्था में हम उस असीम को कभी भी प्रकाशित नहीं कर सकते। किन्तु हमीं वह असीमस्वरूप हैं—यह जान लेने से फिर और किसी के साथ तर्क-वितर्क करने का प्रयोजन नहीं रह जाता।

भक्ति, ध्यान और ब्रह्मचर्य के द्वारा उस ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करना होगा। "सत्यमेव जयते नानृतम्, सत्येनैव पन्था विततो देवयानः।" सत्य की जय होती है, मिथ्या की जय कभी भी नहीं होती। सत्य के भीतर से ही ब्रह्मलाभ का एकमात्र मार्ग रहता है; केवल वहीं प्रेम और सत्य वर्तमान हैं।

११ जुलाई, बृहस्पतिवार

माता के प्रेम के बिना कोई भी सृष्टि स्थायी नहीं हो सकती। जगत् का कोई भी पदार्थ न सम्पूर्ण जड़ है और न सम्पूर्ण चित् ही

---

* प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥—मुण्डक उप., २, २, ४।

है। जड़ और चित् परस्पर सापेक्ष हैं—एक के द्वारा ही दूसरे की व्याख्या होती है। इस परिदृश्यमान जगत् की एक भित्ति है—इस विषय में सभी आस्तिक एकमत हैं, केवल उस भित्तिस्थानीय वस्तु की प्रकृति या स्वरूप के सम्बन्ध में ही उनका मतभेद है। जगत् की इस प्रकार की कोई भित्ति है यह जड़वादी स्वीकार नहीं करते।

सभी धर्मों में ज्ञानातीत या तुरीय अवस्था एक है। देहज्ञान का अतिक्रमण करने पर हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, इतना ही नहीं, जो लोग किसी प्रकार का धर्ममत स्वीकार नहीं करते, सभी को ठीक एक ही प्रकार की अनुभूति होती है।

* * * *

ईसा के देहत्याग के पच्चीस वर्ष बाद उनके शिष्य थॉमस (Apostle Thomas) द्वारा संसार में सबसे विशुद्ध ईसाई सम्प्रदाय भारत में स्थापित हुआ था। एङ्गलो-सैक्सन (Anglo-saxon) उस समय भी असभ्य थे। वे शरीर को चित्रविचित्र ढंग से रंगाते थे और पर्वतों की गुफाओं में निवास करते थे। एक समय भारत में प्रायः तीस लाख ईसाई थे, किन्तु इस समय उनकी संख्या कोई दस लाख होगी।

ईसाई धर्म सर्वदा ही तलवार के बल से प्रचारित हुआ था। कैसा आश्चर्य है, ईसा के समान निरीह महापुरुष के शिष्यों ने इतनी नरहत्या की! बौद्ध, मुसलमान और ईसाई ये तीनों धर्म जगत् में प्रचारशील धर्म हैं। इनके पूर्ववर्ती तीन धर्मों ने—हिन्दू, यहूदी और जरथुस्त्री (पारसी धर्म)—कभी भी प्रचार के द्वारा दल बाँधने की चेष्टा नहीं की, बौद्ध लोगों ने कभी भी नरहत्या नहीं की, तो भी वे

लोग केवल अपने नम्र व्यवहार के द्वारा एक समय संसार के तीन चतुर्थांश लोगों को अपने मत में ले आये थे।

बौद्ध लोग सर्वापेक्षा युक्तिसंगत अज्ञेयवादी थे। वास्तव में शून्यवाद तथा अद्वैतवाद, इन दोनों के बीच में युक्ति कहीं भी स्थिर नहीं हो पाती। बौद्ध लोगों ने विचारों के द्वारा सब कुछ खण्डित कर दिया था — वे लोग अपने मत को युक्ति के द्वारा जितनी दूर ले जा सकते थे उतनी दूर ले गये। अद्वैतवादी भी अपने मत को युक्ति की चरम सीमा तक ले गये थे और उस एक अखण्ड अद्वय ब्रह्मवस्तु में पहुँचे थे जिससे समुदय जगत्प्रपंच व्यक्त हो रहा है। बौद्ध और अद्वैतवादी दोनों को एक ही समय में एकत्व और बहुत्व का बोध होता है। इन दोनों अनुभूतियों में एक सत्य और दूसरी मिथ्या अवश्य ही होगी। शून्यवादी कहते हैं, बहुत्वबोध सत्य है; अद्वैतवादी कहते हैं, एकत्वबोध ही सत्य है; सम्पूर्ण जगत् में यही विवाद चल रहा है। इसी को लेकर खींचातानी (Tug of war) चल रही है।

अद्वैतवादी पूछते हैं, "शून्यवादी एकत्व का भाव कहाँ और कैसे पाते हैं?" घूमती हुई मशाल उन्हें एक वृत्त के रूप में कैसे प्रतीत होती है? एक स्थिति स्वीकार किये बिना गति की व्याख्या कैसे हो सकती है? सभी वस्तुओं के पीछे एक अखण्ड सत्ता प्रतीयमान हो रही है; उसे शून्यवादी भ्रममात्र कहते हैं, किन्तु इस भ्रमोत्पत्ति का कारण क्या है, इसकी व्याख्या वे किसी भी तरह नहीं कर पाते। इसी तरह अद्वैतवादी भी यह नहीं समझा पाते कि एक अनेक कैसे हुआ। इसकी व्याख्या एकमात्र पञ्चेन्द्रियातीत अवस्था में पहुँचने पर ही मालूम हो सकती है। हमें तुरीय भूमि में उठना होगा, सम्पूर्ण रूप से अतीन्द्रिय अवस्था

में पहुँचना होगा। उक्त अवस्था में जाने की शक्ति मानो एक यन्त्र-स्वरूप है और इस यन्त्र का व्यवहार करना केवल अद्वैतवादियों के हाथ में है। वे ही ब्रह्म की सत्ता का अनुभव करने में समर्थ हैं; विवेकानन्द नाम का मनुष्य स्वयं को ब्रह्मसत्ता में परिणत कर सकता है और उस अवस्था से मानवीय अवस्था में लौट आ सकता है। अतएव उसके लिये जगत्समस्या की मीमांसा हो गई है और गौणरूप से दूसरों के लिये भी यह मीमांसा हो गई है; क्योंकि वह दूसरों को उस अवस्था में पहुँचने का मार्ग दिखला सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ दर्शन की समाप्ति होती है, वहाँ धर्म का आरम्भ होता है। और इस प्रकार की उपलब्धि के द्वारा जगत् का कल्याण यह होगा कि इस समय जो ज्ञानातीत है, वह बाद में सर्वसाधारण के लिये ज्ञानगम्य हो जायगा। इसलिये जगत् में धर्मलाभ ही सर्वश्रेष्ठ कार्य है; और मनुष्य अज्ञात रूप में इसका अनुभव करता है, इसीलिये वह सदा के लिये धर्मभाव का आश्रय लेकर रहता है।

धर्म मानो बहुगुणशालिनी पयस्विनी गौ है; वह बहुत लात मारती है, किन्तु उससे क्या? वह दूध भी बहुत देती है। जो गाय दूध देती है, ग्वाला उसकी लात सहता जाता है।

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में वर्णन है कि महामोह और विवेक नामक दो राजाओं में लड़ाई छिड़ी। विवेक राजा की सम्पूर्ण जीत नहीं हो सकी। अन्त में विवेक राजा के साथ उपनिषद् देवी का पुनर्मिलन हुआ और उनसे प्रबोधरूपी पुत्र उत्पन्न हुआ। फिर उस पुत्र के प्रभाव से उनके शत्रुओं में कोई भी अवशिष्ट नहीं रह गया। तब वे परम सुख से रहने लगे। हमें प्रबोध या धर्मसाक्षात्कार रूपी महैश्वर्यवान

पुत्रलाभ करना होगा। इस प्रबोधरूपी पुत्र को खिला पिलाकर बड़ा करना होगा, ऐसा करने से वह एक बड़ा बलवान वीर हो जायगा।

भक्ति या प्रेम के द्वारा चेष्टा किये बिना ही मनुष्य की समुदय इच्छाशक्ति एकमुखी हो जाती है—स्त्री-पुरुष का प्रेम ही इसमें दृष्टान्त है। भक्तिमार्ग स्वाभाविक पथ है और वह आनंददायक भी है। ज्ञानमार्ग एक प्रबल वेगवती पर्वतीय नदी को बलपूर्वक ठेलकर उसके उद्गमस्थान की ओर ले जाने के सदृश है। यहाँ वस्तु बहुत जल्दी मिलती है किन्तु यह विशेष कठिन अवश्य है। ज्ञानमार्ग कहता है, "समुदय प्रवृत्ति का निरोध करो।" भक्तिमार्ग कहता है, "स्रोत में शरीर को बहा दो, चिरकाल के लिये सम्पूर्ण आत्मसमर्पण कर दो।" यह मार्ग लम्बा तो है, किन्तु अपेक्षाकृत सरल और सुखकर है।

भक्त कहता है—"प्रभो, सदा के लिये मैं तुम्हारा हूँ। मैं जो सोचता हूँ कि मैं ही कार्य कर रहा हूँ, वह वास्तव में तुम से ही हो रहा है—और 'मैं या मेरा' केवल भ्रममात्र है।"

"हे प्रभो, मेरा धन नहीं है कि मैं दान करूँ; मेरी बुद्धि नहीं है जो मैं शास्त्राध्ययन करूँ; मुझे समय नहीं है जो मैं योगाभ्यास करूँ; हे प्रेममय! इसीलिये मैंने अपना देह-मन सभी कुछ तुम्हें अर्पण कर दिया।"

कितना ही अज्ञान या भ्रान्त धारणा क्यों न आवे, जीवात्मा और परमात्मा के बीच कभी भी भेद नहीं हो सकता। ईश्वर नामक यदि कोई भी हो, तो भी प्रेम के भाव को दृढतापूर्वक पकड़े रहो। कुत्ते के समान सड़े मुर्दे को खोजते खोजते मरने की अपेक्षा ईश्वर को खोजते खोजते मरना ही कहीं अधिक अच्छा है। सर्वश्रेष्ठ आदर्श

को चुन लो और उसी आदर्श को पाने के लिये अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दो। मृत्यु जब इतनी निश्चित है, तब एक महान् उद्देश्य के लिये जीवनपात करने की अपेक्षा अन्य कोई बात अधिक श्रेष्ठ नहीं है—"सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति।"

भक्ति के द्वारा बिना किसी क्लेश के ही ज्ञानलाभ होता है—इस ज्ञान के बाद पराभक्ति आती है।

ज्ञानी अत्यन्त सूक्ष्म विचारप्रेमी हैं, किसी अत्यन्त क्षुद्र विषय को लेकर भी वे हल्ला मचाते रहते हैं; किन्तु भक्त कहते हैं, "ईश्वर अपना यथार्थ स्वरूप मेरे सम्मुख प्रकट करेंगे"; इसलिये वे सब कुछ मान लेते हैं।

रबिया

रबिया रोग से हो मुह्यमान
निज शय्या पर सोई अजान
ऐसे समय में निकट उसके
आगमन हुआ दो महात्माओं का;—
पवित्र मालिक, ज्ञानी वे हसन,
पूजते जिनको सब मुसलमान।
बोले हसन सम्बोधित कर उसे,
"पवित्र भाव से प्रार्थना जो करता है,
जो दुःख ईश्वर देता है उसे,
सहिष्णुता-बल से वहन वह करता है।"
पवित्र मालिक जो थे गम्भीरात्मा,
वे बोले अपनी अनुभव-वाणी,

"प्रभु की जो इच्छा वही प्रिय जिसे,
आनन्द होगा दुःख में उसे।"
रबिया सुनकर दोनों साधु-वाणी,
स्वार्थगन्धलेश है उनमें समझ;
बोली, "हे ईश-कृपा के भाजन,
दोनों के प्रति करती हूँ एक निवेदन —
जो जन देखता प्रभु का आनन
आनन्द-पयोधि में वह होगा मगन।
प्रार्थना समय मन में उसके
उठेगा नहीं कभी ऐसा विचार —
दुःख पाया मैंने किसी समय;
जानेगा कभी नहीं दुःख किसको कहते।"

— फारसी कविता

१२ जुलाई, शुक्रवार

(आज वेदान्तसूत्र के शाङ्करभाष्य से पाठ होने लगा।)

'तत्तु समन्वयात्'

— व्याससूत्र, १, १, ४।

आत्मा अथवा ब्रह्म ही समग्र वेदान्त के प्रतिपाद्य हैं।

ईश्वर को वेदान्त के द्वारा जानना होगा। समग्र वेद ही जगत्कारण सृष्टि स्थिति प्रलयकर्ता ईश्वर का वर्णन करते हैं। समस्त हिन्दू देव-देवियों के ऊपर ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीन देवता है। ईश्वर इन तीनों का एकीभाव है।

वेद तुम्हें ब्रह्म को दिखला नहीं सकते। तुम तो वही ब्रह्म हो।

वेद केवल इतना ही कर सकते हैं कि जिस आवरण ने हमारे नेत्र के सामने से सत्य को छिपा रखा है, उसे हटाने में वे सहायता पहुँचा सकते हैं। पहले चला जाता है अज्ञानावरण, उसके बाद जाता है पाप और उसके बाद वासना और स्वार्थपरता दूर होती है, — अतएव सभी दुःख-कष्टों का अवसान हो जाता है। इस अज्ञान का तिरोभाव तभी हो सकता है जब हम यह जान लें कि ब्रह्म और मैं एक ही हूँ; अर्थात् स्वयं को आत्मा के साथ अभिन्न कर लें, मानवीय उपाधियों के साथ नहीं। देहात्मबुद्धि दूर कर दो, ऐसा करते ही सारे दुःख-क्लेश दूर हो जायँगे। मनोबल से रोग दूर कर देने का यही रहस्य है। यह जगत् संमोहन (Hypnotism) का एक व्यापार है; अपने ऊपर से संमोहन के इस प्रभाव को दूर कर दो, ऐसा करने पर तुम्हारे लिये फिर कोई कष्ट न रहेगा।

मुक्त होने के लिये पहले पाप त्यागकर पुण्योपार्जन करना होगा, उसके बाद पाप पुण्य दोनों को ही छोड़ना होगा। पहले रजोगुण के द्वारा तमोगुण को जीतना होगा, बाद में दोनों को ही सत्त्व गुण में विलीन करना होगा, — अन्त में इन तीनों गुणों के परे जाना होगा। इस प्रकार की एक अवस्था प्राप्त करो, जहाँ तुम्हारा प्रत्येक श्वास-प्रश्वास उनकी उपासनास्वरूप होगा। जब कभी देखो कि दूसरों की बातों से तुम कुछ शिक्षा प्राप्त करते हो तो समझ लो कि पूर्वजन्म में उस विषय की तुम्हें अभिज्ञता प्राप्त हुई थी; क्योंकि अभिज्ञता ही हमारी एकमात्र शिक्षक है।

जितनी क्षमता प्राप्त होगी, उतना ही दुःख बढ़ेगा, इसलिये वासना का पूर्ण रूप से नाश कर डालो। किसी भी तरह की वासना करना मानो बर्रे के छत्ते को लकड़ी से कोंचने के समान है और वासनाएँ तो

मानो सोने के पत्ते से आवृत विष की गोलियों के समान है। — इसे जानने का नाम ही वैराग्य है।

'मन ब्रह्म नहीं है।' 'तत्त्वमसि' — तुम वह हो, 'अहं ब्रह्मास्मि' — मैं ब्रह्म हूँ। जब मनुष्य यह उपलब्धि कर लेता है, तब "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः" — उसकी समग्र हृदयग्रन्थि कट जाती है, सभी संशय छिन्न हो जाते हैं। जब तक हमारे ऊपर कोई भी — हमसे भिन्न कोई भी — यहाँ तक कि ईश्वर भी — यदि रहेंगे तब तक अभय अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। हमें वही ईश्वर या ब्रह्म हो जाना होगा। यदि ऐसी कोई वस्तु है जो ब्रह्म से पृथक् है तो वह चिरकाल तक ब्रह्म से पृथक् रहेगी; यदि तुम स्वरूपतः ब्रह्म से पृथक् हो तो तुम कभी भी उसके साथ एक नहीं हो सकते; और इसके विरुद्ध यदि तुम एक हो तो कभी भी पृथक् नहीं रह सकते। यदि पुण्यबल से ही तुम्हारा ब्रह्म के साथ योग होता है तो फिर पुण्यक्षय होते ही वियोग भी होगा। असली बात यह है कि ब्रह्म के साथ तुम्हारा नित्य योग रहता है — पुण्य कर्म तो केवल आवरण दूर करने में सहायक मात्र है। हम आज़ाद अर्थात् मुक्त हैं — हमें यही उपलब्धि करनी होगी।

'यमेवैष वृणुते — जिसे यह आत्मा वरण करती है'* इसका

---

* नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनु स्वाम्॥

कठ. उप. २ — २३

अर्थात् "इस आत्मा को वेदाध्ययन द्वारा प्राप्त नहीं किया जाता, वह मेधा द्वारा अथवा बहुत से शास्त्रों के श्रवण से भी प्राप्त नहीं होती। यह आत्मा जिसको वरण (अर्थात् मानोनीत) करती है, वही इसको प्राप्त करता है; उसीके समक्ष यह आत्मा अपना रूप प्रकाशित करती है।"

तात्पर्य है—हम ही आत्मा हैं और हम अपने को ही वरण करते हैं।

प्रश्न है कि ब्रह्मदर्शन हमारी अपनी चेष्टा पर निर्भर है अथवा बाहरी किसी की सहायता के ऊपर? असल में वह हमारी अपनी चेष्टा के ऊपर ही निर्भर है। हमारी चेष्टा के द्वारा दर्पण के ऊपर जो धूल जमी रहती है वह हटाई जाती है और वह पहले के सदृश स्वच्छ हो जाता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीनों का वास्तव में अस्तित्व नहीं है। जो जानता है कि 'मैं नहीं जानता' वही ठीक जानता है।† जो केवल एक ही मत पर अवलम्बित होकर बैठे हैं, वे कुछ भी नहीं जानते।

हम बद्ध हैं, यह धारणा ही भूल है।

धर्म इस जगत् की वस्तु नहीं है; धर्म है चित्तशुद्धि का व्यापार; इस जगत् के ऊपर इसका प्रभाव गौणमात्र है। मुक्ति आत्मा के स्वरूप से अभिन्न है। आत्मा सदा शुद्ध, सदा पूर्ण, सदा अपरिणामी है। इस आत्मा को तुम कभी भी नहीं जान सकते। हम इस आत्मा के सम्बन्ध में 'नेति नेति' छोड़कर और कुछ भी नहीं कह पाते। शङ्कर कहते हैं, "जिसे हम मन या कल्पना की समस्त शक्ति का प्रयोग करने पर भी हटा नहीं सकते वही ब्रह्म है।"

* * * *

यह जगत्प्रपञ्च भावमात्र है और वेद इस भाव को प्रकाशित करनेवाली शब्दराशि मात्र है। हम इच्छानुरूप इस जगत्प्रपञ्च की

† यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥
—केन उप., २, ३

सृष्टि कर सकते हैं और नाश भी कर सकते हैं। एक सम्प्रदाय के कर्मियों का मत यह है कि शब्द के पुन: पुन: उच्चारण से उसका अव्यक्त भाव जाग्रत होता है और फलस्वरूप एक व्यक्त कार्य उत्पन्न होता है। वे कहते हैं, हममें से प्रत्येक व्यक्ति एक एक सृष्टिकर्ता है। शब्दविशेष का उच्चारण करते ही तत्संश्लिष्ट भाव उत्पन्न होगा और उसका फल दिखाई पड़ेगा। मीमांसक सम्प्रदाय कहता है, "भाव है शब्द की शक्ति और शब्द है भाव की अभिव्यक्ति।"

१३ जुलाई, शनिवार

हम जो कुछ जानते हैं वह मिश्रण-स्वरूप है, और हमारी समग्र विषयानुभूति विश्लेषण से ही आती है। मन को अमिश्र, स्वतन्त्र या स्वाधीन वस्तु समझना ही द्वैतवाद है। केवल शास्त्र या पुस्तक पढ़ने से दार्शनिक ज्ञान या तत्त्वज्ञान नहीं होता, वरन् जितनी पुस्तकें पढ़ोगे मन उतना ही उलझता जायगा। जो सब दार्शनिक उतने चिन्ताशील नहीं थे वे सोचते थे, मन एक अमिश्र वस्तु है — और उसी से वे "स्वाधीन इच्छा" नामक मतवाद में विश्वास करते थे। किन्तु मनोविज्ञान-शास्त्र (Psychology) मन के अवस्थासमूह का विश्लेषण करके यह बता चुका है कि मन एक मिश्रित वस्तु है; और चूँकि प्रत्येक मिश्रवस्तु किसी न किसी बाह्य शक्तिबल के आधार पर अवलम्बित है, अत: मन या इच्छा भी बहि:स्थ शक्तिसमूह के संयोग पर अवलम्बित रहती है। जब तक मनुष्य को भूख नहीं लगेगी, तब तक वह खाने की इच्छा भी नहीं कर सकता। इच्छा या संकल्प (Will) वासना (Desire) के अधीन है। किन्तु तो भी हम स्वाधीन या मुक्तस्वभाव हैं — सभी ऐसा अनुभव करते हैं।

अज्ञेयवादी कहते हैं, यह धारणा भ्रममात्र है। ऐसा होने पर जगत् के अस्तित्व का प्रमाण कैसे हो सकेगा? इसका प्रमाण केवल यही है कि हम सभी लोग जगत् देखते हैं और उसके अस्तित्व का अनुभव करते हैं। तो फिर हम सभी अपने अपने को जो मुक्तस्वभाव अनुभव करते हैं, यह अनुभव भी यथार्थ क्यों न होगा, और चूँकि सभी अनुभव करते हैं इसलिये जगत् का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है; और सभी जब अपने को मुक्तस्वभाव या स्वाधीनप्रकृति अनुभव करते हैं, तो उसका भी अस्तित्व स्वीकृत करना पड़ेगा। परन्तु इच्छा को हम जिस प्रकार देखते हैं, उसके सम्बन्ध में 'स्वाधीन' शब्द का प्रयोग नहीं लग सकता। अपने मुक्तस्वभाव के सम्बन्ध में मनुष्य का यह स्वाभाविक विश्वास ही समुदय तर्क-युक्ति और विचार की भित्ति है। 'इच्छा' बद्धभावापन्न होने के पहले जैसी थी, वही मुक्तस्वभाव है। मनुष्य में यह जो स्वाधीन इच्छा की प्रवृत्ति है उसीसे प्रतिक्षण यह दिखाई देता है कि मनुष्य स्वभावतः ही बन्धन काटने की चेष्टा कर रहा है। एकमात्र वही वस्तु वास्तव में मुक्तस्वभाव हो सकती है जो अनन्त, असीम और देश-काल-निमित्त से अतीत है। मनुष्य के भीतर अभी जो स्वाधीनता है, वह एक पूर्व स्मृतिमात्र है, स्वाधीनता या मुक्तिलाभ की चेष्टामात्र है।

संसार के सभी पदार्थ मानो घूमकर एक वृत्त सम्पूर्ण करने की चेष्टा कर रहे हैं—वे अपने उत्पत्ति-स्थान में जाने की, अपने एकमात्र यथार्थ उत्पत्ति-स्थान आत्मा में जाने की चेष्टा कर रहे हैं। मनुष्य सुख का जो अन्वेषण कर रहा है, वह और कुछ नहीं है—उसने जो साम्यभाव खो दिया है, वह उसी को फिर से पाने की चेष्टा कर

रहा है। यह जो नीति-पालन है, यह भी बद्धभावापन्न इच्छा की मुक्त होने की चेष्टा है और इस प्रकार की चेष्टा का होना ही इस बात का प्रमाण है कि हम पूर्णावस्था से नीचे उतर आये हैं।

*   *   *   *

कर्तव्य की धारणा मानो दुःखरूपी मध्याह्न मार्तण्ड है — वह मानो आत्मा को दग्ध कर डालता है। "हे राजन्, इस एक बिन्दु अमृत को पीकर सुखी होओ।" (आत्मा अकर्ता है, यह धारणा ही अमृत है।)

कार्य चलने दो, किन्तु उसकी प्रतिक्रिया नहीं होनी चाहिये; कार्य से सुख ही होता है, किन्तु समुदय दुःख प्रतिक्रिया का फल है। शिशु आग में हाथ डालता है — उसके सुख के लिये; किन्तु जब उसका शरीर प्रतिक्रिया करता है तभी उसको जलने का कष्ट अनुभव होने लगता है। हम यदि प्रतिक्रिया को बन्द कर दें, तो फिर हमारे लिये भय का कुछ भी कारण न रहेगा। मस्तिष्क को अपने वश में रखो, जिससे वह प्रतिक्रिया की खबर ही न रख सके। साक्षिस्वरूप बनो, देखो, जिससे प्रतिक्रिया न आने पावे, केवल इतना ही होने से तुम सुखी हो जाओगे। हमारे जीवन का सबसे सुखकर क्षण वही होगा, जब हम स्वयं को बिलकुल भूल जायँगे। स्वाधीन भाव से जी खोलकर काम करो, कर्तव्य के भाव से काम मत करो। हमारा कर्तव्य कुछ भी नहीं है। यह जगत् तो खेल का एक अखाड़ा है — हम यहाँ खेलते हैं; हमारा जीवन तो अनन्त आनन्दावकाश है।

जीवन का समस्त रहस्य है निर्भीक होना। तुम्हारा क्या होगा, इस भय को छोड दो, किसी के ऊपर निर्भर मत रहो। जब तुम दूसरे

की सहायता का आशा-भरोसा छोड़ दोगे, तभी तुम मुक्त हो जाओगे। जो स्पञ्ज पूरा जल सोख लेता है, वह फिर और अधिक जल ग्रहण नहीं कर सकता।

* * * *

आत्मरक्षा के लिये भी लड़ाई करना अन्याय है, परन्तु बिना किसी कारण दूसरों पर आक्रमण करने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है। 'न्याय्य क्रोध' नाम की कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि सभी वस्तुओं में समत्व बुद्धि के अभाव मे ही क्रोध आता है।

१४ जुलाई, रविवार

भारत में दर्शनशास्त्र का अर्थ है वह शास्त्र या विद्या जिसके द्वारा हम ईश्वर का साक्षात्कार कर सकते हैं। दर्शन धर्म की युक्ति-संगत व्याख्या है। इसलिये कोई हिन्दू कभी भी धर्म और दर्शन के बीच क्या सम्बन्ध है, यह जानना नहीं चाहता।

दार्शनिक चिन्ताप्रणाली के तीन सोपान हैं:—प्रथम, स्थूल वस्तुओं का पृथक् पृथक् ज्ञान (Concrete); द्वितीय, इन सभों को एक एक श्रेणी में रखना अथवा उनके बीच सामान्य का आविष्कार करना (Generalised); तृतीय, उन सामान्यों के भीतर सूक्ष्म विचार द्वारा ऐक्य का आविष्कार करना (Abstract)। समस्त पदार्थ जहाँ एकत्व प्राप्त करते हैं, वह परम वस्तु अद्वितीय ब्रह्म है। धर्म की प्रथम अवस्था में भिन्न भिन्न प्रतीक या रूपविशेष की सहायता लेना आवश्यक देखा जाता है; द्वितीय अवस्था में नानाविध पौराणिक वर्णन और उपदेश की अधिकता होती है; तथा अन्तिम अवस्था में दार्शनिक तत्वसमूहों का विवरण होता है। इन तीनों में प्रथम और द्वितीय

केवल सामयिक प्रयोजन के लिये हैं, किन्तु दर्शन ही इन सभों की मूल-भित्तिस्वरूप है; और दूसरे सभी उस चरम तत्व में पहुँचने के लिये सोपानस्वरूप हैं।

पाश्चात्य देशों में धर्म की धारणा यह है कि बाइबिल का न्यू टेस्टामेन्ट और ईसा मसीह को छोड़कर धर्म हो ही नहीं सकता। यहूदियों के धर्म में भी मूसा और प्रॉफेट आदि के सम्बन्ध में इसी प्रकार की एक धारणा है। इस धारणा का कारण यही है कि ये सब धर्म केवल पौराणिक वर्णन के ऊपर निर्भर हैं। यथार्थ सर्वोच्च धर्म वह है, जो इन सभी पौराणिक वर्णनों के परे है, वह धर्म कभी भी केवल इन्हीं सब पर निर्भर नहीं रह सकता। आधुनिक विज्ञान वास्तव में धर्म की भित्ति को और भी दृढ़ बनाता है। समुदय ब्रह्माण्ड एक अखण्ड वस्तु है, यह विज्ञान के द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। दार्शनिक जिसे सत्य कहते हैं, वैज्ञानिक उसी को जड़ कहते हैं; किन्तु ठीक ठीक देखने पर इन दोनों के बीच कोई विरोध नहीं है, क्योंकि दोनों ही एक हैं। देखो, परमाणु अदृश्य और अचिन्त्य हैं, तो भी उनमें ब्रह्माण्ड की समस्त शक्ति और सामर्थ्य रहती है। वेदान्तवादी भी आत्मा के सम्बन्ध में ठीक ऐसा ही कहते हैं। वास्तव में सभी सम्प्रदाय भिन्न भिन्न भाषाओं में वही एक बात कहते हैं।

वेदान्त और आधुनिक विज्ञान दोनों ही जगत् की कारणस्वरूप एक ऐसी वस्तु का निर्देश करते हैं जिससे अन्य किसी की सहायता के बिना जगत् का प्रकाश होता है। वही एक निमित्त-कारण है, तथा अन्य सब समवायी एवं असमवायी-रूप उपादान-कारण हैं। जैसे कुम्हार मिट्टी से घट का निर्माण करता है; यहाँ कुम्हार होता है निमित्त-कारण,

मिट्टी होती है समवायी उपादान-कारण और कुम्हार का चक्र होता है असमवायी उपादान-कारण। किन्तु आत्मा स्वयं ही ये तीनों कारण है। आत्मा कारण भी है और अभिव्यक्ति या कार्य भी है। वेदान्ती कहते हैं, यह जगत् सत्य नहीं है, यह तो आपातप्रतीयमान सत्तामात्र है। प्रकृति आदि कुछ भी नहीं है, अविद्यारूपी आवरण में से एकमात्र ब्रह्म ही प्रकाशित है। विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं, ईश्वर और प्रकृति ही यह जगत्प्रपञ्च हुए हैं; अद्वैतवादी कहते हैं, ईश्वर इस जगत्प्रपंच के रूप में प्रतीयमान होते हैं अवश्य, किन्तु वे यह जगत् नहीं हैं।

हम अनुभूतिविशेष को एक मानसिक प्रतिक्रिया के रूप में ही जान सकते हैं — इसे एक मानसिक घटनारूप में एवं मस्तिष्क के भीतर एक चिह्न के रूप में जान सकते हैं। हम मस्तिष्क को आगे या पीछे नहीं चला सकते, किन्तु मन को चला सकते हैं। मन को भूत, भविष्यत्, वर्तमान — इन तीनों कालों में प्रसारित किया जा सकता है। इसलिये मन के भीतर जो जो घटनायें घटित होती हैं, वे अनन्त काल के लिये संचित रहती हैं। मन के भीतर सभी घटनायें पहले से ही संस्कार के रूप में रहती हैं; क्योंकि मन सर्वव्यापी है।

देश-काल-निमित्त चिन्ता की ही एक प्रणालीविशेष है — यह आविष्कार कॉन्ट का एक श्रेष्ठ कार्य है। किन्तु वेदान्त बहुत पहले इस बात को सिखला गया है, और वह इसे माया नाम से सम्बोधित करता है। शोपेनहॉर ने केवल युक्ति के ऊपर खड़े होकर वेदोक्त तत्त्वों की युक्ति के सहारे व्याख्या करने की चेष्टा की है। शंकर वेद को आर्ष कहते हैं।

अनेक वृक्ष देखने पर उनके साधारण धर्म वृक्षत्व के आविष्कार का नाम ही ज्ञान है। और सर्वोच्च ज्ञान है उसी 'एकमेवाद्वितीय' वस्तु का ज्ञान।

समग्र जगत्प्रपंच का चरम सामान्य अथवा साधारण भाव ही सगुण ईश्वर है; केवल वह अस्पष्ट है, एवं सुनिर्दिष्ट और दार्शनिक विचारसंमत नहीं।

वही एक तत्त्व स्वयं अभिव्यक्त हो रहा है, उसी से सब कुछ हुआ है।

पदार्थविज्ञान का कार्य घटनावली का आविष्कार है, और दर्शन मानो इन विभिन्न घटनारूपी फूलों की माला गूँथने के लिये एक सूत्र के समान है। चिन्ता की सहायता से ऐक्य के आविष्कार की चेष्टा ही दर्शन का क्षेत्र है। इतना ही नहीं, किसी पौधे की जड़ में खाद देने की क्रिया में भी इस प्रकार एक ऐक्याविष्कार-प्रणाली (Process of Abstraction) की सहायता ली जाती है।

धर्म के भीतर स्थूल तथा अपेक्षाकृत सूक्ष्म तत्व और चरम एकत्व —ये तीन भाव हैं। केवल स्थूल या विशेष को लेकर ही मत पड़े रहो। उस चरम सूक्ष्म तत्व में, उस एकत्व में चले जाओ।

* * * *

असुर तमःप्रधान यन्त्र हैं, देवता सत्त्वप्रधान यन्त्र; किन्तु दोनों ही यन्त्र हैं। केवल मनुष्य ही यन्त्रवत् नहीं है। यन्त्रवत् भाव को अपने हृदय से हटा दो; देव और असुर दोनों से ही तुम श्रेष्ठ हो— यह धारणा रखो, तभी तुम मुक्त हो सकते हो। यह पृथिवी ही एकमात्र स्थान है, जहाँ मनुष्य मुक्ति लाभ कर सकता है।

'यमेवैषवृणुते तेन लभ्यः', अर्थात् 'यह आत्मा जिसका वरण करती है'—यह बात सत्य है। वरण या मनोनीत करना सत्य है, किन्तु आभ्यन्तर की ओर से इसका अर्थ करना होगा। बाहर की ओर से कोई वरण करता है, इस प्रकार यदि इसकी अदृष्टवादमूलक व्याख्या की जाय, तब तो यह एक भयानक बात हो जायगी।

१५ जुलाई, सोमवार

जहाँ स्त्रियों में बहुविवाह-प्रथा प्रचलित है, जैसे कि तिब्बत में, वहाँ स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक बलवती होती हैं। जब अंग्रेज इस देश में जाते हैं, तब ये स्त्रियाँ जवान जवान पुरुषों को अपने पीठ पर लेकर पहाड़ पर चढ़ती हैं।

मालाबार देश में स्त्रियों का बहुविवाह नहीं होता है, किन्तु वहाँ सभी विषयों में स्त्रियों का प्राधान्य है। सैनिक, शिक्षक, दरवान, मजदूर आदि सभी का काम स्त्रियाँ ही करती हैं। वहाँ सर्वत्र ही विशेष रूप से स्वच्छता की ओर दृष्टि रखी जाती है, और विद्याचर्चा में भी अत्यधिक उत्साह है। मैं जब इस प्रदेश में गया, तब मैंने अनेक स्त्रियों को देखा, जो उत्तम संस्कृत बोल सकती थीं, किन्तु भारत में दूसरी जगह दस लाख में एक व्यक्ति भी संस्कृत बोल सकता है या नहीं, इसमें संदेह है। स्वाधीनता में उन्नति होती है, किन्तु दासता से तो अवनति ही होती है। पोर्तुगीज या मुसलमान कभी भी मालाबार को जीत नहीं पाये।

द्रविड़ लोग मध्य-एशिया की एक अनार्यजाति के हैं—आर्यों से पहले ही वे भारत में आये थे, और दक्षिणारण्य के द्रविड़ लोग सर्वापेक्षा सभ्य थे। उनमें पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की सामाजिक

अवस्था उन्नत थी। बाद में वे विभक्त हो गये, कुछ मिश्र में और कुछ बाबिलोनिया में चले गये, शेष सब भारत में ही रहे।

१६ जुलाई, मंगलवार

शंकर

अदृष्ट (अर्थात् अव्यक्त कारण या संस्कार) हमसे यज्ञयाग उपासना आदि करवाता है, उससे व्यक्त फल उत्पन्न होता है। किन्तु मुक्तिलाभ करने के लिये हमें ब्रह्म के सम्बन्ध में पहले श्रवण, फिर मनन, उसके बाद निदिध्यासन करना होगा।

कर्म तथा ज्ञान के फल पूर्णतया पृथक् पृथक् हैं। Morality या वैधी धर्म का मूल होता है—"यह कार्य करो" और "यह कार्य मत करो"; किन्तु वास्तव में इनका देह और मन के साथ ही सम्बन्ध है। सुख और दुःख इन्द्रियों के साथ अच्छेद्य रूप से सम्बद्ध रहते हैं, और सुख-दुःख का भोग करने के लिये शरीर का प्रयोजन है। जिसका शरीर जितना श्रेष्ठ होगा, उसके धर्म या पुण्य का आदर्श भी उतना ही उच्चतर होगा—यह प्रणाली ब्रह्मा तक पर लागू है। किन्तु सभी को शरीर है, और जब तक देह है, तब तक सुख-दुःख रहेगा ही; केवल देहातीत या विदेह होने पर ही सुख-दुःख का पूर्ण रूप से अतिक्रमण हो सकता है। शंकर कहते हैं, आत्मा विदेह है।

किसी विधि-निषेध के द्वारा मुक्तिलाभ नहीं हो सकता। तुम सदा मुक्त ही हो। यदि तुम पहले से ही मुक्त न होते तो तुम्हें किसी भी तरह मुक्ति नहीं दी जा सकती। आत्मा स्वप्रकाश है। कार्य-कारण आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकता—इस विदेह अवस्था

का नाम ही मुक्ति है। ब्रह्म भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन सब से परे है। यदि मुक्ति किसी कर्म का फलस्वरूप होती, तो उसका कोई मूल्य ही न होता, वह एक यौगिक वस्तु होती, इसलिये उसके भीतर बन्धन का बीज निहित होता। यह मुक्ति ही आत्मा की एकमात्र नित्य सङ्गी है, उसको प्राप्त नहीं किया जाता, वह तो आत्मा का यथार्थ स्वरूप है।

तब आत्मा के ऊपर जो आवरण पड़ा रहता है, उसीको हटाने के लिये — बन्धन और भ्रम को दूर करने के लिये — कर्म और उपासना का प्रयोजन है। ये दोनों चीजें यद्यपि मुक्ति नहीं दे सकतीं किन्तु फिर भी हम यदि अपनी चेष्टा न करें तो हमारी आँखें नहीं खुलेंगी, और हम अपने स्वरूप को पहचान नहीं पायेंगे। शंकर आगे और भी कहते हैं, अद्वैतवाद ही वेद का गौरवमुकुटस्वरूप है; किन्तु वेद के निम्न भागों का भी प्रयोजन है, क्योंकि वे हमें कर्म और उपासना का उपदेश देते हैं, और इन सभों की सहायता से भी अनेक लोग भगवान् के सम्मुख पहुँचते हैं; फिर इस प्रकार के भी बहुत से व्यक्ति हो सकते हैं, जो केवल अद्वैतवाद की सहायता से ही उस अवस्था में पहुँचेंगे। अद्वैतवाद जिस अवस्था में ले जाता है, कर्म और उपासना भी उसी अवस्था में ले जाती हैं।

शास्त्र ब्रह्म के बारे में कुछ भी शिक्षा नहीं दे सकते, वे केवल अज्ञान दूर कर दे सकते हैं। उनका कार्य नाशात्मक (Negative) है। शंकर का गौरवमण्डित प्रधान कार्य यही है कि उन्होंने शास्त्र को भी स्वीकार किया है, और सब के सामने मुक्ति का मार्ग भी खोल दिया है। कुछ भी कहो, इतना अवश्य है कि उनको इसे लेकर अति

सूक्ष्म विचार करना पड़ा है। पहले मनुष्य को एक स्थूल अवलम्बन दो, बाद में उसे धीरे धीरे सर्वोच्च अवस्था में ले जाओ। विभिन्न प्रकार के धर्म यही चेष्टा करते हैं; इससे यही ज्ञात होता है कि ये सभी धर्म संसार में अभी भी क्यों विद्यमान हैं और प्रत्येक धर्म मनुष्य की उन्नति के लिए किस तरह किसी न किसी अवस्था में उपयोगी है। शास्त्र जिस अविद्या को दूर करने के लिये प्रवृत्त हुए हैं वे स्वयं उस अविद्या के अन्तर्गत हैं। शास्त्र का कार्य है ज्ञान के ऊपर जो अज्ञानरूपी आवरण पड़ गया है, उसे दूर करना। "सत्य असत्य को दूर कर देगा।" तुम मुक्त ही हो, तुम्हें और कौन मुक्त करेगा? जब तक तुम किसी धर्ममतविशेष पर अवलम्बित हो, तब तक तुमने ब्रह्म को नहीं प्राप्त किया है। "जो मन में सोचते हैं, 'मैं जानता हूँ' वे नहीं जानते।" जो स्वयं ज्ञातास्वरूप हैं, उनको कौन जान सकता है? दो वस्तुएँ हैं—एक ब्रह्म और दूसरा जगत्। उनमें ब्रह्म अपरिणामी है और जगत परिणामी। जगत् अनन्त काल से रहता आया है। जब तुम्हारा मन लगातार होने वाले परिवर्तन को समझ नहीं पाता तब तुम उसे अनंत कहते हो....। जगत् और ब्रह्म एक हैं अवश्य, किन्तु एक ही समय तुम दो पदार्थों को देख नहीं सकते—एक पत्थर के ऊपर एक मूर्ति खुदी हुई है—जब तुम्हारा ध्यान पत्थर की ओर होगा तो खुदाई की ओर नहीं रहेगा, और यदि खुदाई की ओर ध्यान दो, तो पत्थर का ध्यान नहीं रहेगा।

*   *   *   *

तुम क्या एक क्षण भी अपने को स्थिर कर पाते हो? सभी योगी कहते हैं—यह करना सम्भव है।

* * * *

सबसे अधिक पाप है, अपने को दुर्बल समझना। तुमसे बड़ा और कोई नहीं है; उपलब्धि करो कि तुम ब्रह्मस्वरूप हो। जिस किसी वस्तु में तुम शक्ति का विकास देखते हो, वह शक्ति तुम्हारी दी हुई है।

हम सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, इतना ही नहीं, समस्त जगत्प्रपञ्च के ऊपर हैं। शिक्षा दो कि मनुष्य ब्रह्मस्वरूप है। 'खराब' शब्दवाच्य कुछ है, यह स्वीकार मत करो; जो नहीं है उसकी सृष्टि अपनी ओर से मत करो। सदर्प करो, 'मै प्रभु हूँ, मैं सभी का प्रभु हूँ।' हमीं ने अपनी अपनी शृंखला गढ़ी है, और केवल हमीं इसे तोड़ सकते हैं।

कर्म किसी भी तरह तुम्हें मुक्ति नहीं दे सकता, केवल ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति हो सकती है। ज्ञान अप्रतिरोधनीय है; मन इस तरह कर ही नहीं सकता कि इच्छा हुई उसे ग्रहण किया, इच्छा हुई छोड़ दिया। जब ज्ञानोदय होगा, तब मन को उसे ग्रहण करना ही होगा। अतएव यह ज्ञानलाभ मन का कार्य नहीं है। किन्तु मन में इस ज्ञान का प्रकाश होता अवश्य है।

कर्म और उपासना का फल इतना ही है कि वे तुम्हें अपने भूले हुए स्वरूप में फिर पहुँचा देते हैं। आत्मा देह है, यह सोचना बिलकुल भ्रम है; अतएव हम इस शरीर में ही मुक्त हो सकते हैं। देह के साथ आत्मा का थोड़ा भी सादृश्य नहीं है। माया का अर्थ 'कुछ नहीं' नहीं है, मिथ्या को सत्य कहकर ग्रहण करना ही माया का अर्थ है।

१७ जुलाई, बुधवार

रामानुज जगत्प्रपञ्च को चित् (जीवात्मा या साधारण ज्ञानभूमि), अचित् (जड़ प्रकृति या ज्ञान की अधोभूमि), एवं ईश्वर (ज्ञानातीत

भूमि या तुरीय भूमि)—इन तीन भागों में विभक्त करते हैं। किन्तु शंकर कहते हैं, चित् या जीवात्मा, एवं परमात्मा या ईश्वर एक ही वस्तु है। ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप हैं; ये सत्य, ज्ञान और अनन्त उसके गुण नहीं हैं। ईश्वर का चिन्तन करने के समय ही उनको विशिष्ट करना होता है; उनके सम्बन्ध में अधिक से अधिक 'ॐ तत्सत्' अर्थात् वह सत्तास्वरूप और अस्तित्वस्वरूप है, इतना ही कहा जा सकता है।

शंकर और भी पूछते हैं, तुम क्या सत्ता को अन्य सब वस्तुओं से पृथक् करके देख सकते हो? दो वस्तुओं के बीच वैशिष्ट्य ज्ञान कहाँ पर होता है?—इन्द्रियों में? नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर तो सभी विषयों का ज्ञान एक ही प्रकार का होता। हमें विषयज्ञान एक के बाद एक के क्रम से होता है। एक वस्तु क्या है, यह जानने के साथ साथ, वह क्या नहीं है, यह भी तुम्हें जानना पड़ता है। दो वस्तुओं के बीच पार्थक्य आदि का ज्ञान हमारी स्मृति में ही अवस्थित है, और मस्तिष्क में जो संचित है, उसीके साथ तुलना करके हम यह सब जान सकते हैं। भेद, वस्तुओं के स्वरूप में नहीं रहता, वह तो हमारे मस्तिष्क में रहता है। बाहर में एक अखण्ड वस्तु ही है, भेद केवल भीतर में, हमारे मन में रहता है, अतएव बहुत्व का ज्ञान मन की ही सृष्टि है।

ये सभी विशेष या भेद गुणपदवाच्य होते हैं। वे पृथक् रहते हैं, फिर भी किसी अन्य वस्तु के साथ जड़ित रहते हैं। यह 'विशेष' क्या है, हम निश्चय रूप से कह नहीं सकते। विभिन्न वस्तुओं के बारे मे हम केवल उनकी सत्ता या अस्तित्व को ही देख तथा अनुभव कर पाते हैं। शेष जो कुछ है, सब हमारे ही भीतर है। किसी

वस्तु की सत्ता के सम्बन्ध में ही हम निःसंशय प्रमाण पाते हैं। विशेष या भेद वास्तव में गौणरूप से सत्य है—जैसे रज्जु में सर्पज्ञान; क्योंकि इस सर्पज्ञान में भी सत्यता है—कारण अयथार्थ होने पर भी कुछ न कुछ तो देखा ही जाता है। जब रज्जुज्ञान का लोप होता है, तभी सर्पज्ञान का आविर्भाव होता है, इसी तरह विपरीत क्रम से सर्पज्ञान के लोप होने पर रज्जुज्ञान का आविर्भाव होता है। किन्तु तुम एकमात्र वस्तु देखते हो, इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि अन्य वस्तु है ही नहीं। जगत् का ज्ञान ब्रह्मज्ञान का प्रतिबन्धक-स्वरूप होकर उसे आच्छादित करके रखता है, उसे दूर करना होगा, किन्तु उसका भी अस्तित्व है, यह स्वीकार करना ही होगा।

शंकर और भी कहते हैं कि अनुभूति (Perception) ही अस्तित्व का चरम प्रमाण है। अनुभूति स्वयंज्योतिः एवं स्वयंप्रकाश है; क्योंकि इन्द्रियज्ञान के परे जाने के लिये हमें उसकी आवश्यकता पड़ती ही है। अनुभूति कोई इन्द्रिय या करण सापेक्ष नहीं है, वह सम्पूर्ण निरपेक्ष है। अनुभूति संज्ञा (Consciousness) रहित नहीं हो सकती; अनुभव स्वप्रकाश है और इस स्वप्रकाश के आंशिक प्रकाश को संज्ञा कहते हैं। किसी प्रकार की अनुभव-क्रिया संज्ञा-विहीन नहीं हो सकती, वास्तव में प्रत्येक अनुभव-क्रिया का स्वरूप ही संज्ञा होता है। सत्ता और अनुभव एक वस्तु हैं; दो पृथक् पृथक् वस्तुओं के समान एक साथ जुड़ी हुई नहीं। और जिसका कोई कारण नहीं है, वही अनन्त है; अतएव अनुभूति जब स्वयमेव अपना चरम प्रमाण है, तब अनुभूति भी अनन्तस्वरूप है। और यह सर्वदा ही स्वसंवेद्य है। अनुभूति स्वयं ही स्वयं की ज्ञातास्वरूप है; यह मन का धर्म नहीं है, किन्तु उसके रहने

से ही मन रहता है; यही पूर्ण और एकमात्र ज्ञाता है। अतएव वास्तव में अनुभूति ही आत्मा है। अनुभूति ही स्वयं अनुभव करती है, किन्तु साधारण अर्थ में इसे ज्ञाता नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उससे ज्ञानरूप क्रिया के कर्ता का बोध होता है। किन्तु शंकर कहते हैं, आत्मा अहं नहीं है, क्योंकि उसमें 'मैं हूँ' यह भाव नहीं है। हम उसी आत्मा के प्रतिबिम्ब मात्र हैं, और आत्मा तथा ब्रह्म एक हैं।

जब तुम उस पूर्ण ब्रह्म के सम्बन्ध में कुछ कहते हो या सोचते हो, तब वह सब आपेक्षिक भाव से करना होता है, अतएव वहीं इन सब युक्ति-विचारों का स्थान है। किन्तु योगावस्था में अनुभूति और अपरोक्षानुभूति एक हो जाती हैं। रामानुज-व्याख्यात विशिष्टाद्वैतवाद आंशिक रूप में एकत्वदर्शन है; इसलिये वह भी उस अद्वैतावस्था का एक सोपान-स्वरूप है। 'विशिष्ट' का अर्थ ही है भेदयुक्त। 'प्रकृति' का अर्थ है जगत्, और उसका परिणाम सर्वदा होता है। परिणामी चिन्ताराशि परिणामशील शब्दराशि के द्वारा अभिव्यक्त होकर कभी भी उस पूर्णस्वरूप को प्रमाणित नहीं कर सकती। इस प्रकार हम केवल एक ऐसी स्थिति में पहुँचते हैं जहाँ केवल कुछ गुण छोड़ दिये गए हैं, किन्तु वह स्थिति स्वयं ब्रह्मस्वरूप नहीं है। हम केवल शब्दगत एकत्व में पहुँचते है, परन्तु जो चरम ऐक्य है उसे हम प्राप्त नहीं कर सकते और उससे आपेक्षिक जगत् का विलोप-साधन भी नहीं होता।

१८ जुलाई, बृहस्पतिवार

(आज का आलोच्य विषय प्रधानतः सांख्यदर्शन के विरुद्ध में शंकराचार्य की युक्तियाँ थीं।)

सांख्यवादी कहते हैं, ज्ञान एक मिश्रित पदार्थ है और विश्लेषण

करते करते अन्त में हमें उसके परे विद्यमान साक्षिस्वरूप पुरुष के अस्तित्व की अवगति होती है। ये पुरुष संख्या में बहु हैं; हममें से प्रत्येक ही एक एक पुरुष हैं। किन्तु अद्वैत वेदान्त इसके विरुद्ध कहता है कि पुरुष केवल एकमात्र हो सकता है; पुरुष में ज्ञान, अज्ञान अथवा अन्य कोई गुण या धर्म नहीं रहता, क्योंकि गुणों का अस्तित्व ही उसके बन्धन का कारण होगा और अन्त में उन गुणों का लोप भी होगा। अतएव वह एक वस्तु अवश्य ही सभी प्रकार के गुणों से रहित है। इतना ही नहीं, ज्ञान भी उसमें नहीं रह सकता और वह जगत् या और किसी का कारण भी नहीं हो सकता। वेद कहते हैं, "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"—"हे सौम्य, पहले वह एक अद्वितीय सत् ही था।"

*　　　*　　　*　　　*

जहाँ सत्त्वगुण रहता है, वहीं ज्ञान देखा जाता है, इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि सत्त्व ही ज्ञान की उत्पत्ति का कारण है। वरन् मानव के भीतर ज्ञान पहले से ही रहता है, सत्त्व के सान्निध्य से वह ज्ञान प्रकाशित मात्र होता है—ठीक उसी तरह जैसे अग्नि के समीप लोहे का एक गोला रखने पर अग्नि उस गोले के भीतर पहले से ही अव्यक्त रूप में विद्यमान तेज को प्रकाशित करके उसे उत्तप्त कर देती है—उसके भीतर प्रवेश नहीं करती।

शंकर कहते हैं, ज्ञान बन्धनस्वरूप नहीं है, क्योंकि वह उस पुरुष या ब्रह्म का स्वरूप है। जगत् व्यक्त या अव्यक्त रूप में सर्वदा ही रहता है, अतएव उस ज्ञानस्वरूप की ज्ञेय वस्तु का अभाव किसी भी काल में नहीं होता।

ज्ञान-बल-क्रिया ही ईश्वर है। ज्ञान प्राप्त करने के लिये ईश्वर को देह, इन्द्रिय आदि किसी आकार की आवश्यकता नहीं पड़ती। जो ससीम है, उसके लिये उस अनन्त ज्ञान को धारण करने के निमित्त एक प्रतिबन्धक की अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि की आवश्यकता होती है, किन्तु ईश्वर को इस प्रकार की सहायता की बिलकुल ही आवश्यकता नहीं। वास्तव में एकमेवाद्वितीय आत्मा ही है; विभिन्न लोकगामी जीवात्मा शब्दवाच्य स्वतन्त्र आत्मा कोई नहीं है। पञ्च प्राण जहाँ पर एकीभूत होते हैं, उस देह के उस चेतन नियन्ता को ही जीवात्मा कहते हैं, किन्तु वह जीवात्मा ही परमात्मा है, क्योंकि आत्मा ही सब कुछ है। तुम उसे जो अन्य रूप में समझते हो, वह भ्रान्ति तुम्हारी ही है, जीव में वह भ्रान्ति नहीं है। तुम्हीं ब्रह्म हो, फिर तुम अपने को अन्यथा जो कुछ समझते हो, वह तुम्हारी भूल है। कृष्ण को कृष्ण समझकर पूजा मत करो, कृष्ण में जो आत्मा है, उसी की उपासना करो। केवल आत्मा की उपासना से ही मुक्तिलाभ होगा। केवल यही नहीं, सगुण ईश्वर भी उस आत्मा का बहिःप्रकाश मात्र है। शंकर कहते हैं, "स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।" — अपने स्वरूप के आन्तरिक अनुसन्धान को ही भक्ति कहते हैं।

हम ईश्वरप्राप्ति के लिये जिन विभिन्न उपायों का अवलम्बन करते हैं, वे सब सत्य हैं। जैसे अरुन्धती नक्षत्र दिखलाने के लिये आसपास के नक्षत्रों की केवल सहायता ली जाती है, उसी तरह ये भी हैं।

* * * *

भगवद्गीता वेदान्त का श्रेष्ठ प्रमाणभूत ग्रन्थ है।

१९ जुलाई, शुक्रवार

जब तक हमारा 'मैं' 'तुम' इस प्रकार का भेद-ज्ञान रहता है, तब तक कोई एक भगवान् हमारी रक्षा करते हैं, यह कहने का हमें अधिकार है। जब तक हमें इस प्रकार का भेद-ज्ञान रहता है, तब तक उससे जो सभी अनिवार्य सिद्धान्त निकलते हैं, उन्हें भी ग्रहण करना होगा। 'मैं' और 'तुम' को स्वीकार करने पर हमें आदर्श-स्थानीय एक और तीसरी वस्तु को स्वीकार करना होगा जो इन दोनों के बीच है, और वही है ईश्वर जो त्रिकोण (Triangle) के शीर्ष बिन्दु स्वरूप हैं—जैसे वाष्प से जल होता है और वही जल गङ्गा आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध होता है। जब वाष्पावस्था है, तब उसे गङ्गा नहीं कहा जाता और जब जल है, तब उसे वाष्प नहीं कहा जाता। सृष्टि या परिणाम की धारणा के साथ इच्छाशक्ति की धारणा अच्छेद्य भाव से जड़ित है। जब तक हम जगत् को गतिशील देखते हैं, तब तक उसके पृष्ठभाग में इच्छाशक्ति का अस्तित्व हमें स्वीकार करना होता है। इन्द्रियज्ञान सम्पूर्ण भ्रान्ति है, इसे पदार्थ-विज्ञान भी प्रमाणित करता है; हम किसी वस्तु को जिस प्रकार देखते हैं, सुनते हैं, स्पर्श, घ्राण या आस्वाद करते हैं, स्वरूपतः वह वैसी ही नहीं होती। विशेष विशेष प्रकार का स्पन्दन विशेष विशेष प्रकार के फल का उत्पादन करता है; और वे सब हमारी इन्द्रियों के ऊपर क्रिया करते हैं; हम तो केवल आपेक्षिक सत्य जान सकते हैं।

'सत्य' शब्द 'सत्' से निकला है। जो 'सत्' अर्थात् जो 'है' जो 'अस्तित्वस्वरूप' है वही सत्य है। हमारी वर्तमान दृष्टि से यह जगत्प्रपञ्च इच्छा और ज्ञानशक्ति के प्रकाश के रूप में ज्ञात होता

है। हमारा अस्तित्व जितना सत्य है, सगुण ईश्वर भी उतना ही सत्य है, तदपेक्षा अधिक सत्य नहीं। हमारा रूप जैसे देखा जाता है, ईश्वर को भी उसी प्रकार साकार भाव में देखा जा सकता है। जब तक हम मनुष्य हैं, तब तक हमें ईश्वर का प्रयोजन है; हम जब स्वयं ब्रह्म-स्वरूप हो जायँगे तब फिर हमें ईश्वर का प्रयोजन नहीं रह जायगा। इसीलिये श्रीरामकृष्ण उस जगज्जननी को अपने समीप सदा सर्वदा वर्तमान देखते थे—वे अपने आसपास की अन्य सभी वस्तुओं की अपेक्षा उन्हें अधिक सत्य रूप में देखते थे; किन्तु समाधि-अवस्था में उन्हें आत्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अनुभव नहीं होता था। वे सगुण ईश्वर क्रमशः हमारी ओर बढ़ते हैं, अन्त में वे मानो गल जाते हैं, उस समय 'ईश्वर' भी नहीं रहते, 'अहं' भी नहीं रहता—सब का उसी आत्मा में लय हो जाता है।

हमारा यह ज्ञान एक बन्धनस्वरूप है। एक ऐसा मत है जो सृष्टि पर से स्रष्टा की कल्पना करता है और इस मतानुसार रूपादि सृष्टि के पहले बुद्धि का अस्तित्व है। किन्तु ज्ञान यदि किसी का कारण है, तो वह भी उसी प्रकार अन्य किसी का कार्यस्वरूप भी है। इसीको कहते हैं माया। ईश्वर हमें सृष्ट करते हैं और हम भी ईश्वर को सृष्ट करते हैं—यही है माया। सर्वत्र इस प्रकार की चक्रगति देखी जाती है। मन देह को उत्पन्न करता है और देह मन को; अण्डा पक्षी को और पक्षी अण्डे को; वृक्ष बीज को और बीज वृक्ष को। यह जगत्प्रपञ्च न सम्पूर्ण विषम है और न सम्पूर्ण सम ही। मनुष्य स्वाधीन है—उसे इन दोनों भावों के ऊपर उठना होगा। ये दोनों ही अपनी अपनी प्रकाश-भूमि में सत्य अवश्य हैं, किन्तु उस यथार्थ सत्य को, उस

अस्तित्वस्वरूप को प्राप्त करने के लिये, अस्तित्व, इच्छा, ज्ञान, करना, सुनना, चलना, फिरना आदि क्रियाओं के बारे में हमारी अभी जो कुछ धारणाएँ हैं उन सबके परे हमें जाना होगा। वास्तव में जीवात्मा का व्यक्तित्व नहीं है—वह तो मिश्र वस्तु है, इसलिये भविष्य में वह खण्ड खण्ड होकर नष्ट हो जायगा। जिसका किसी भी प्रकार से विश्लेषण नहीं हो सकता, केवल वही वस्तु अमिश्र है और वही सत्यस्वरूप, मुक्तस्वभाव, अमृत और आनन्दस्वरूप है। इस भ्रमात्मक स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिये जितनी चेष्टा की जाय, सभी वास्तव में पाप है—और इस स्वातन्त्र्य का नाश करने की समस्त चेष्टा ही धर्म या पुण्य है। इस जगत् में सभी व्यक्ति, कोई जान में कोई अनजान में, इस स्वातन्त्र्य को नष्ट करने की चेष्टा करते है। चारित्र्य-नीति (Morality) की भित्ति होती है इस पार्थक्य-ज्ञान अथवा इस भ्रमात्मक स्वातन्त्र्य को नष्ट करने की चेष्टा; क्योंकि यही सब प्रकार के पापों का मूल है; चारित्र्य-नीति पहले से ही विद्यमान है, वह किसी के द्वारा सृष्ट नहीं है; बाद में धर्मशास्त्र उसे विधिबद्ध मात्र करता है। प्रथमतः समाज में अनेकविध प्रथायें स्वभावतः उत्पन्न होती हैं, उनकी व्याख्या के लिये बाद में पुराणों की उत्पत्ति होती है। जब घटनायें घटती हैं, तब तो वे युक्ति-विचार से किसी उच्चतर नियम से ही घटती है, युक्ति-विचार का आविर्भाव बाद में होता है—उन्हें समझाने के लिये। युक्ति-विचार में किसी भी तरह की घटना घटित करने की शक्ति नहीं है, वह तो मानो घटना घटित हो जाने के बाद जुगाली करने के समान है। युक्ति-तर्क मानो मानवों के कार्य-कलाप का एक इतिहासकार (Historian) मात्र है।

* * * *

बुद्ध एक महावेदान्तिक थे, (क्योंकि बौद्धधर्म वास्तव में वेदान्त का शाखाविशेष मात्र है) और शंकर को भी कोई कोई प्रच्छन्न बौद्ध कहते हैं। बुद्ध ने विश्लेषण किया था—शंकर ने उन सभों का संश्लेषण किया है। बुद्ध ने कभी भी वेद या जातिभेद अथवा पुरोहित किंवा सामाजिक प्रथा किसी के सामने माथा नहीं नमाया। जहाँ तक युक्ति-विचार चल सकता है, वहाँ तक निर्भीकता के साथ उन्होंने युक्ति-विचार किया है। इस प्रकार का निर्भीक सत्यानुसन्धान, तथा सभी प्राणियों के प्रति इस प्रकार का प्रेम संसार में किसी ने कभी भी नहीं देखा। बुद्ध मानो धर्मजगत् के वाशिंग्टन थे, उन्होंने सिंहासन जीता था केवल जगत् को देने के लिये, जैसे वाशिंग्टन ने मार्किन जाति के लिये किया था। वे अपने लिये थोड़ी सी भी आकांक्षा नहीं रखते थे।

२० जुलाई, शनिवार

प्रत्यक्षानुभूति ही यथार्थ ज्ञान या यथार्थ धर्म है। अनन्त युगों तक हम यदि धर्म के सम्बन्ध में केवल बातें ही करते रहें, तो उससे हमें कभी भी आत्मज्ञान नहीं हो सकता। केवल मतविशेष में विश्वासी होना और नास्तिकता—इन दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है। वरन् इस प्रकार के आस्तिक और नास्तिक में तो नास्तिक ही अच्छा है। उस प्रत्यक्षानुभूति के आलोक में मैं जितने कदम आगे बढ़ूँगा उससे मुझे कोई कभी भी पीछे नहीं हटा सकेगा। किसी देश को जब तुमने स्वयं जाकर देखा, तब तुम्हें उसके सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान हुआ। हममें से प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्यक्षानुभूति करनी होगी। आचार्य-

गण केवल हमारे समीप खाना लाकर दे सकते हैं—इस खाद्य के द्वारा पुष्टि लाभ करने के लिये हमें स्वयमेव खाना पड़ेगा। तर्क-युक्ति ईश्वर को ठीक ठीक प्रमाणित नहीं कर सकती, वह उसके बारे में केवल एक युक्तिसंगत सिद्धान्त स्थापित करती है।

भगवान् को अपने से बाहर प्राप्त करना हमारे लिये असम्भव है। बाहर में जो ईश्वर-तत्व की उपलब्धि होती है, वह हमारी आत्मा का ही प्रकाश मात्र है। हम ही हैं भगवान् का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर। बाहर जो कुछ उपलब्धि होती है, वह हमारे आभ्यन्तरिक ज्ञान का ही अति सामान्य अनुकरण या प्रतिबिम्ब मात्र है।

हमारे मन की शक्तियों की एकाग्रता ही हमारे लिये ईश्वर-दर्शन का एकमात्र साधन है। यदि तुम एक आत्मा को (अपनी आत्मा को) जान सको, तो तुम भूत, भविष्यत्, वर्तमान सभी आत्माओं को जान सकोगे। इच्छाशक्ति के द्वारा मन की एकाग्रता साधित होती है—और विचार, भक्ति, प्राणायाम इत्यादि विभिन्न उपायों से यह इच्छाशक्ति उद्बुद्ध और वशीकृत हो सकती है। एकाग्र मन मानो एक प्रदीप है जिसके द्वारा आत्मा का स्वरूप स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

एक प्रकार की साधनाप्रणाली सब के लिए उपयोगी नहीं हो सकती। इसका अर्थ यह नहीं कि विभिन्न साधनाप्रणालियों का सोपान के समान एक एक करके अवलम्बन करना होगा। क्रिया-कलाप, अनुष्ठान आदि सबकी अपेक्षा निम्न साधन है, उससे श्रेष्ठतर साधन है ईश्वर को अपनी आत्मा से बाहर देखना, और सर्वश्रेष्ठ साधन है अपनी आत्मा के भीतर ब्रह्म का साक्षात्कार करना। कुछ व्यक्तियों के लिए एक के बाद दूसरा—इस प्रकार के क्रम की आवश्यकता हो सकती है,

किन्तु अधिकांश व्यक्तियों के लिए एक ही मार्ग की आवश्यकता होती है। सभों के लिए यह कहना कि "ज्ञानलाभ करने के लिए तुम्हें कर्म और भक्ति के मार्ग से ही जाना होगा"—इससे बढ़कर अधिक अहमकपन और क्या हो सकता है?

जब तक तुम युक्ति-विचार के अतीत कोई तत्व प्राप्त नहीं करते हो, तब तक तुम अपने युक्ति-विचार को पकड़े रहो और इस अवस्था में पहुँचने पर तुम्हें मालूम हो जायगा कि वह तत्व युक्ति-विचार से अधिक श्रेष्ठ है तथा वह उसका विरोधी नहीं है। इस युक्ति-विचार या ज्ञान की अतीत भूमि है समाधि, किन्तु स्नायवीय रोगों की प्रतिक्रियास्वरूप मूर्छा-विशेष को ही समाधि मत समझ बैठो। अनेक व्यक्ति झूठा दावा करते है कि उन्होंने समाधि प्राप्त कर ली है, वे पशु के सदृश स्वाभाविक या सहज ज्ञान को ही समाधि-अवस्था कहने की भूल करते हैं—यह बड़ी भयानक बात है। 'यह यथार्थ भाव-समाधि है या स्नायवीय रोग,' इसका बाहर से निर्णय करने का कोई उपाय नहीं। 'वह ठीक ठीक समाधि अवस्था है या नहीं' यह आप ही आप मालूम हो जाता है। पर युक्ति-विचार की सहायता लेने से भूल-भ्रान्ति से रक्षा हो सकती है—अतएव इसे 'व्यतिरेकी' परीक्षा कह सकते हैं। धर्मलाभ का अर्थ है युक्ति-तर्क के परे जाना, किन्तु इस धर्मलाभ का मार्ग एकमात्र युक्ति-विचार के बीच से ही है। सहजात ज्ञान मानो बरफ है, युक्ति-विचार मानो जल है, और अलौकिक ज्ञान अथवा समाधि मानो बाष्प है जो सर्वापेक्षा सूक्ष्म अवस्था है। ये एक के बाद एक आती हैं। सर्वत्र ही यह नित्य पौर्वापर्य या क्रम रहता है, जैसे अज्ञान, संज्ञा या आपेक्षिक ज्ञान, और निरपेक्ष ज्ञान; जड पदार्थ, देह, मन। और ऐसा

प्रतीत होता है कि हम इस शृङ्खला की जिस कड़ी को पकड़ते हैं वहीं से उसका आरम्भ होता है। अर्थात् कोई कहते हैं, देह से मन की उत्पत्ति हुई है, और कोई कहते हैं, मन से देह की। दोनों ही पक्षों में युक्ति का समान मूल्य है, और दोनों ही मत सत्य हैं। हमें इन दोनों के परे जाना होगा—ऐसी अवस्था में पहुँचना होगा, जहाँ देह और मन, दोनों ही नहीं हैं। यह जो क्रम या पौर्वापर्य है—यह भी माया है।

धर्म युक्ति-विचार के परे है, धर्म अतिप्राकृतिक है। विश्वास का अर्थ कुछ भी मान लेना नहीं है—विश्वास का अर्थ है उस चरम पदार्थ की धारणा करना—यह हृदय-कन्दर को उद्भासित कर देता है। पहले उस आत्मतत्व के सम्बन्ध में श्रवण करो, उसके बाद विचार करो—विचार द्वारा उक्त आत्मतत्व के सम्बन्ध में यथाशक्ति जानने का प्रयत्न करो; इसके ऊपर से विचार की बाढ़ को बहने दो—उसके बाद जो शेष रहे उसी को ग्रहण करो। यदि कुछ भी शेष न रहे, तो तुम भगवान् को धन्यवाद दो, क्योंकि तुम एक कुसंस्कार से मुक्त हो गए हो। और जब तुम्हारा यह निश्चय हो जायगा कि आत्मा के अस्तित्व से कोई भी इनकार नहीं कर सकता, जब आत्मा सभी प्रकार की कसौटी पर उतरेगी तब तुम उसे दृढ़ भाव से पकड़े रहो तथा सभी को इस आत्मतत्व का उपदेश दो। सत्य कभी भी किसी व्यक्तिविशेष की सम्पत्ति नहीं हो सकता—उससे सभी का कल्याण होगा। अन्त में, स्थिर भाव और शान्त चित्त से उसका निदिध्यासन करो—उसका ध्यान करो, तुम अपने मन को उसके ऊपर एकाग्र करो, इस आत्मा के साथ अपने को एकभावापन्न कर डालो। तब

फिर शब्दों का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा, तुम्हारा यह मौन भाव ही दूसरों के भीतर सत्य तत्व का संचार करेगा। वृथा वागाडम्बर में शक्ति का ह्रास मत करो, चुपचाप होकर ध्यान करो। और बहिर्जगत् का गड़बड़ तुम्हें विचलित भी न करे। जब तुम्हारा मन सर्वोच्च अवस्था में पहुँचता है, तब तुम उसे नहीं जान पाते हो। चुपचाप होकर शक्ति-संचय करो और आध्यात्मिकता का 'डाइनमो' (तड़ित्संचारक यन्त्र) बन जाओ। भिखारी क्या दे सकता है? जो राजा है वही दे सकता है—और वह राजा भी तभी दे सकता है जब वह स्वयं कुछ न चाहे।

*　　*　　*　　*

तुम्हारे पास जो रुपये-पैसे हैं, उन्हें तुम अपना मत समझो, तुम अपने को तो भगवान् का भण्डारी समझो। उन रुपये-पैसों के प्रति आसक्ति मत रखो। नाम, यश, रुपये-पैसे सभी चले जायँ—जाने दो, ये सब तो भयानक बन्धनस्वरूप हैं। स्वाधीनता की अपूर्व मुक्त वायु का उपभोग करो। तुम तो मुक्त हो, मुक्त हो, पहले से ही मुक्त हो; सर्वदा कहो—मैं सदानन्दस्वरूप हूँ, मैं मुक्तस्वभाव हूँ, मैं अनन्तस्वरूप हूँ, मेरी आत्मा का आदि अन्त नहीं है; सभी मेरे आत्मस्वरूप हैं।

२१ जुलाई, रविवार

(पातञ्जल योगसूत्र)

योगशास्त्र वही शिक्षा देता है जिससे चित्र या मन वृत्तिरूप में विभक्त न हो जाय—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।" मन विषयसमूह की छाप और अनुभूति का अर्थात् क्रिया और प्रतिक्रिया का मिश्रण स्वरूप है, अतएव वह नित्य नहीं हो सकता। मन का एक सूक्ष्म शरीर है, उसी शरीर के द्वारा मन स्थूल शरीर के ऊपर कार्य करता है। वेदान्त

कहता है, मन के पीछे यथार्थ आत्मा है। वेदान्त इन दोनों को, अर्थात् देह और मन को स्वीकार करता है, किन्तु वह और एक तृतीय पदार्थ को ग्रहण करता है — जो अनन्त, चरम तत्वस्वरूप, विश्लेषण का अन्तिम फलस्वरूप है, जो एक अखण्ड वस्तु है जिसका विभाजन नहीं हो सकता। जन्म है पुनर्योजन, मृत्यु है वियोजन — और सम्पूर्ण विश्लेषण करने के बाद अन्त में आत्मा को पाया जाता है। आत्मा अविभाज्य है, अतएव आत्मा में पहुँचने से नित्य सनातन तत्व में पहुँचना होता है।

प्रत्येक तरङ्ग के पीछे समग्र समुद्र विद्यमान है — जो कुछ अभिव्यक्ति है वह सब तरङ्ग है — अन्तर इतना ही है कि कुछ खूब बड़ी हैं और कुछ छोटी। किन्तु वास्तव में ये सब तरङ्गें स्वरूपतः समुद्र हैं — समग्र समुद्र ही हैं; किन्तु तरङ्ग की दृष्टि से एक एक अंश है। तरङ्गसमूह जब शान्त हो जाता है, तब सब एकाकार हो जाता है। पतञ्जलि कहते हैं — 'दृश्यविहीन द्रष्टा।' जब मन क्रियाशील रहता है, तब आत्मा उसके साथ मिल जाती है। अनुभूत पुरातन विषयों की द्रुतवेग से पुनरावृत्ति को स्मृति कहते हैं।

अनासक्त बनो। ज्ञान ही शक्ति है — और ज्ञान लाभ करने पर ही तुममें शक्ति आयेगी। इतना ही नहीं, ज्ञान के द्वारा तुम इस जड़ जगत् को भी उड़ा दे सकते हो। जब तुम मन ही मन किसी वस्तु में से एक एक करके गुणों को हटाते हटाते क्रमशः सभी गुणों को हटा सकोगे, तब तुम अपनी इच्छानुसार उस वस्तु को सम्पूर्ण रूप से अपने ज्ञान में से दूर कर सकोगे।

जो उत्तम अधिकारी ह, वे योग में शीघ्रातिशीघ्र उन्नति कर लेते

हैं — छः महीने में वे योगी हो सकते हैं। जो उनकी अपेक्षा निम्न अधिकारी हैं, उन्हें योग में सिद्धिलाभ करने में अनेक वर्ष लग जाते हैं, और जो कोई व्यक्ति निष्ठा के साथ साधना करे — अन्य सभी कार्यों को छोड़कर सर्वदा साधना में ही निरत रहे, तो उसे बारह वर्ष में सिद्धिलाभ हो सकता है। इन सब मानसिक व्यायामों को छोड़कर केवल भक्ति द्वारा भी इस अवस्था में पहुँचा जा सकता है, किन्तु उसमें कुछ विलम्ब होता है। मन के द्वारा उस आत्मा का जिस भाव में दर्शन या धारणा हो सके, उसी को ईश्वर कहते हैं। उसका सर्वश्रेष्ठ नाम है 'ॐ'; अतएव इस ओंकार का जप करो, उसका ध्यान करो, उसके भीतर जो अपूर्व अर्थराशि निहित है, उसका चिन्तन करो। सर्वदा ओंकार जप ही यथार्थ उपासना है। यह मत समझो कि ओंकार सामान्य शब्द है; वह तो स्वयं ईश्वरस्वरूप है।

धर्म तुम्हें कुछ नवीन नहीं देता, वह तो केवल प्रतिबन्धों को दूर कर तुम्हारा यथार्थ स्वरूप तुम्हें दर्शा देता है। व्याधि ही प्रथम प्रबल विघ्न है — स्वस्थ शरीर ही उस योगावस्था प्राप्त करने का सर्वोत्कृष्ट यन्त्रस्वरूप है। मानसिक विषण्ण भावरूपी विघ्न को दूर करना असंभव सा ही प्रतीत होता है। किन्तु यदि तुम ब्रह्म-साक्षात्कार कर लो तो फिर तुम्हारे मन के विषण्ण होने की संभावना ही न रहेगी। संशय, अध्यवसाय का अभाव, भ्रान्तधारणा — ये भी अन्यान्य विघ्न हैं।

* * * *

प्राण है देहस्थित अतिसूक्ष्म शक्ति — देह की सब प्रकार की गति का कारणस्वरूप। प्राण कुल दस हैं — उनमें पाँच प्रधान हैं, और पाँच अप्रधान। एक प्रधान प्राण-प्रवाह ऊपर की ओर प्रवाहित

हो रहा है, अन्य सब नीचे की ओर। प्राणायाम का अर्थ है — श्वास-प्रश्वास के नियमन द्वारा प्राणसमूह को नियमित करना। श्वास मानो काष्ठस्वरूप है, प्राण बाष्पस्वरूप और शरीर मानो इञ्जिन है। प्राणायाम में तीन क्रियायें होती हैं — पूरक — श्वास को भीतर ले जाना, कुम्भक — श्वास को भीतर में धारण करके रखना, और रेचक — श्वास को बाहर निकालना।

*   *   *   *

गुरु हैं वह आधार जिनके द्वारा आध्यात्मिक शक्ति लोगों के समीप पहुँचती है। शिक्षा कोई भी दे सकता है, किन्तु शिष्य में केवल गुरु ही आध्यात्मिक शक्ति का संचार करते हैं, उसीसे शिष्य की आध्यात्मिक उन्नति होती है। शिष्यों में आपस में भाई भाई का सम्बन्ध है; और भारतीय कानून शिष्यों के बीच इस भ्रातृसम्बन्ध को स्वीकार करता है। गुरु ने अपने पूर्व पूर्व आचार्यों से जो मन्त्र या भाव-शक्तिमय शब्द प्राप्त किये हैं, उसीको वे शिष्य में संक्रमित करते हैं — गुरु के बिना साधन-भजन नहीं हो सकता, उलटे विपत्ति की ही बहुत आशङ्का है। साधारणत: गुरु की सहायता लिये बिना इन सभी योगों का अभ्यास करने पर काम की प्रबलता उत्पन्न होती है, किन्तु गुरु की सहायता होने पर प्राय: इसकी सम्भावना नहीं रहती। प्रत्येक इष्ट-देवता का एक एक मन्त्र है। इष्ट का अर्थ है — विशेष विशेष उपासक का विशेष विशेष आदर्श। मन्त्र है भावविशेष को अभिव्यक्त करनेवाला शब्द। इस शब्द के लगातार जप के द्वारा आदर्श को मन में दृढ़ भाव से रखने में सहायता मिलती है। इस प्रकार की उपासना-प्रणाली भारत के सभी साधकों में प्रचलित है।

२३ जुलाई, मंगलवार

(भगवद्गीता — कर्मयोग)

कर्म के द्वारा मुक्तिलाभ करना हो तो अपने को कर्म में नियुक्त करो, किन्तु किसी प्रकार की कामना मत करो — फल की आकांक्षा तुम्हें नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार के कर्मों के द्वारा ज्ञानलाभ होता है और इस ज्ञान के द्वारा मुक्ति होती है। ज्ञान प्राप्त करने के पहले कर्म का त्याग करने से दुःख ही आता है। आत्मा के लिये कर्म करने पर कर्मजनित किसी प्रकार का बन्धन नहीं होता। कर्म से सुख की आकांक्षा भी मत करो और इस प्रकार का भय भी मत रखो कि कर्म करने पर दुःख-कष्ट होगा। देह और मन कार्य करते हैं, मैं कुछ नहीं करता — सर्वदा अपने को इस प्रकार समझाते रहो, और इस बात को प्रत्यक्ष करने की चेष्टा करो। इस प्रकार प्रयत्न करो, जिससे तुम्हें ऐसा ज्ञान न हो जाय कि तुम कुछ कर रहे हो।

समस्त कर्म भगवान् में अर्पण कर दो। संसार में रहो, किन्तु सांसारिक मत बनो — पद्मपत्र की मूली जैसे कीचड़ में रहती है किन्तु वह पत्र जैसे सर्वदा शुद्ध रहता है। लोग तुम्हारे प्रति चाहे जैसा व्यवहार करें, किन्तु तुम्हारा किसी के भी प्रति प्रेम घटना नहीं चाहिये। जो अन्धा है, उसे रंग का ज्ञान कभी नहीं हो सकता — अतएव जब हममें दोष नहीं है तो हम दूसरे का दोष देखेंगे कैसे? हमारे भीतर जो कुछ है, उसके साथ हम उसकी तुलना करते हैं, जो कि हम बाहर देखते हैं, और तदनुसार ही हम किसी विषय में अपना मतामत प्रकट करते हैं। यदि हम स्वयं पवित्र हैं, तो हमें बाहर में अपवित्रता नहीं दिखाई देगी। बाहर में अपवित्रता हो सकती है, किन्तु हमारे लिए

उसका अस्तित्व नहीं होगा। प्रत्येक नरनारी और प्रत्येक बालक-बालिका के भीतर ब्रह्म का दर्शन करो, अन्तर्ज्योति के द्वारा उसे देखो; यदि हमें सर्वत्र उस ब्रह्म का दर्शन होता है, तो हम उसके अतिरिक्त और कुछ देख ही नहीं सकते। इस संसार की कामना मत करो, क्योंकि जो कुछ तुम चाहते हो वही तुम पाते हो। केवल भगवान् का अन्वेषण करो। जितनी अधिक शक्ति प्राप्त होगी, उतने ही बन्धन बढ़ेंगे, उतना ही भय बढ़ेगा। एक सामान्य चींटी की अपेक्षा हम कहीं अधिक भीरु और दुःखी हैं। इस समस्त जगत्प्रपंच से बाहर निकलकर भगवान् के समीप जाओ। स्रष्टा के तत्व को जानने की चेष्टा करो, न कि सृष्ट के तत्व को।

"मैं ही कर्ता हूँ और मैं ही कार्य हूँ।" "जो काम-क्रोध के वेग का अवरोध कर लेते हैं वे महायोगी हैं।"

"अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही मन का निरोध किया जा सकता है।"

* * * *

हमारे पूर्वज चुपचाप बैठकर धर्म और ईश्वर के सम्बन्ध में विचार कर गये हैं और हमारे मस्तिष्क भी इसी कार्य के लिये कार्यक्षम हैं। किन्तु अब हम रुपये-पैसे के लिये जिस प्रकार दौड़धूप कर रहे हैं, उससे उसके नष्ट होने की सम्भावना है।

* * * *

शरीर में एक शक्ति है जिसके द्वारा वह अपने को नीरोग बनाता है—और मानसिक अवस्था, औषधि, व्यायाम आदि तो इस आरोग्य-शक्ति को केवल प्रबोधित करते हैं। जब तक हम भौतिक परिस्थितियों

के द्वारा विचलित होते हैं, तब तक हमें जड़ की सहायता का प्रयोजन होता है। हम जब तक स्नायुसमूह के दासत्व के बन्धन को नहीं काट पाते, तब तक हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

हमारी साधारण ज्ञान-भूमि के नीचे मन की और एक भूमि है — उसे अज्ञान-भूमि (Unconscious mind) कहा जा सकता है; और जिसे हम सम्पूर्ण मानव कहते हैं, ज्ञान उसका एक अंश मात्र है। दर्शनशास्त्र मन के सम्बन्ध में केवल अनुमान मात्र है। किन्तु धर्म प्रत्यक्षानुभूति के ऊपर अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन, जो ज्ञान की एकमात्र भित्ति है, उसी के ऊपर प्रतिष्ठित है। मन जब ज्ञानातीत भूमि में पहुँच जाता है, तब वह यथार्थ वस्तु — यथार्थ सत्य को ही उपलब्ध करता है। आप्त उन्हें कहते हैं, जो धर्म को प्रत्यक्ष कर चुके हैं। उन्होंने जो उपलब्धि की है, उसका प्रमाण यही है कि तुम यदि उनकी प्रणाली का अनुसरण करो तो तुम्हें भी उपलब्धि होगी। प्रत्येक विज्ञान की विशेष विशेष प्रणाली होती है एवं विशेष विशेष यन्त्र की आवश्यकता होती है। एक ज्योतिषी केवल पाकशाला के बर्तनों को लेकर शनिग्रह के वलय आदि दिखाने में समर्थ नहीं हो सकता — वे चीज़ें दिखाने के लिए तो दूरवीक्षण यन्त्र अवश्य है। उसी प्रकार धर्म के महान् सत्य-समूह को देखने के लिये हमें उन लोगों के द्वारा उपदिष्ट प्रणालियों का अनुसरण करना होगा जिन्होंने पहले ही धर्म के महान् सत्य-समूहों को प्रत्यक्ष कर लिया है। जो विज्ञान जितना महान् है, उसकी शिक्षा प्राप्त करने के उपाय भी उतने ही नानाविध हैं। हमारे संसार में आने के पहले ही इससे निकलने का उपाय भी भगवान् ने कर रखा है। अतएव हमें चाहिये केवल उस उपाय की जानकारी। किन्तु

विभिन्न प्रणलियों को लेकर झगड़ा मत करो। केवल जिससे तुम्हें अपरोक्षानुभूति प्राप्त हो, उसी के लिये चेष्टा करो और जो साधन-प्रणाली तुम्हारे लिये सब से उपयोगी हो, उसीका अवलम्बन करो। तुम आम खाते जाओ और दूसरे लोग टोकनी के लिये मार पीट करते हैं तो करने दो। ईसा का दर्शन करो —— तभी तुम यथार्थ ईसाई बनोगे। और शेष सब केवल बातें ही बातें हैं —— ये बातें जितनी कम हों उतना ही अच्छा है।

जिन महामानव के पास जगत् को देने के लिये सन्देश है वे ही वार्तावह या ईशदूत कहे जा सकते हैं; मन्दिर में देवता के रहने पर ही उसे मन्दिर कहा जा सकता है। इसके विपरीत सत्य नहीं है।

तब तक शिक्षा ग्रहण करो "जब तक तुम्हारा मुख ब्रह्मविद् के समान दिव्य भाव से चमक नहीं उठता" जैसे कि सत्यकाम का हुआ था।

मेरा भी अन्दाज़ी ज्ञान है, दूसरों का भी वैसा ही ज्ञान है —— इसी-लिये झगड़ा शुरू होता है। किन्तु प्रत्यक्ष दर्शन करके फिर उसके सम्बन्ध में बातें करो तो देखोगे कि कोई भी मनुष्यहृदय ऐसा नहीं है जो उसे स्वीकार नहीं करेगा। प्रत्यक्षानुभूति के कारण ही सेन्ट पॉल (St. Paul) को उनकी इच्छा के विरुद्ध ईसाई धर्म स्वीकार करना पड़ा था।

२३ जुलाई, मंगलवार

अपराह्न। (मध्याह्न भोजन के बाद कुछ देर तक वार्तालाप हुआ —— उसी के प्रसङ्ग में स्वामीजी ने कहा ——)

भ्रम ही भ्रम की सृष्टि करता है। भ्रम जैसे स्वयं अपनी सृष्टि करता है, वैसे ही स्वयं अपना नाश भी करता है। इसी को कहते हैं

माया। तथाकथित समस्त ज्ञान की भित्ति ही माया है। लेकिन ऐसा एक समय आता है, जब मनुष्य समझ पाता है कि यह ज्ञान अन्योन्याश्रयदोषदूषित है। तब यह ज्ञान स्वयं अपने को नष्ट करने की चेष्टा करता है। 'छोड़ दो रज्जु' — नष्ट होगा आकर्षण। भ्रम कभी भी आत्मा को छू नहीं सकता। जैसे ही हम उस डोरी को पकड़ते हैं अर्थात् माया के साथ अपना तादात्म्य कर लेते हैं, वैसे ही वह हमारे ऊपर शक्ति का विस्तार करती है। माया जहाँ जाना चाहे, उसे जाने दो, केवल साक्षिस्वरूप होकर रहो। ऐसा होने पर ही अविचलित होकर जगत्प्रपञ्चरूपी चित्र के दिव्य सौन्दर्य से मुग्ध हो सकोगे।

२४ जुलाई, बुधवार

जिन्होंने योग में पूर्णतया सिद्धि प्राप्त कर ली है, उनके लिये योगसिद्धि आदि विघ्न नहीं हैं, किन्तु प्रवर्तक के लिये वे सब विघ्नरूप हो सकते हैं, क्योंकि इन सभों का प्रयोग करते करते इन सभों से एक आनन्द और विस्मय का भाव आ सकता है। सिद्धि या विभूति आदि योगसाधना के मार्ग में ठीक ठीक अग्रसर होने का चिह्नस्वरूप है, किन्तु वे सब मन्त्रजप, उपवासादि तपस्या, योगसाधन, इतना ही नहीं, औषधिविशेष आदि के व्यवहार द्वारा भी प्राप्त हो सकती हैं। जो योगी योगसिद्धिसमूह में भी वैराग्य धारण करते हैं और समस्त कर्मफल का त्याग करते हैं, उन्हें धर्ममेघ नामक समाधि का लाभ होता है। जैसे मेघ बरसता है, उसी प्रकार वे अपनी लब्ध योगावस्था के द्वारा चारों दिशाओं में धर्म या पवित्रता का प्रभाव विस्तार करते हैं।

जब एक सदृश प्रत्यय की लगातार आवृत्ति होती है, तब वह

ध्यानपदवाच्य होता है, किन्तु समाधि में मन एक वस्तु के साथ ही तद्रूप हो जाता है।

मन आत्मा का ज्ञेय है, किन्तु मन स्वप्रकाश नहीं है। आत्मा किसी वस्तु का कारण नहीं हो सकता। कैसे होगा? पुरुष प्रकृति से युक्त होगा कैसे? वास्तव में पुरुष कभी भी प्रकृति से युक्त नहीं होता —अविवेक के कारण ही पुरुष प्रकृति से युक्त हुआ प्रतीत होता है।

*   *   *   *

लोगों की सहायता करुणा की दृष्टि से न करो और न यही सोचकर करो कि वे अति हीन अवस्था में पड़े हुए हैं। शत्रु-मित्र दोनों के प्रति समदृष्टि होना सीखो; जब ऐसा हो सकेगा तथा तुम्हें कोई वासना नहीं रहेगी, तभी यह समझना चाहिए कि तुम्हें चरमावस्था का लाभ हुआ है।

वासनारूपी अश्वत्थवृक्ष को अनासक्तिरूपी कुठार के द्वारा काट डालो, ऐसा करने पर वह बिलकुल नष्ट हो जायगा—वह तो एक भ्रम मात्र है, और कुछ नहीं। "जिनका मोह और शोक चला गया है, जिन्होंने सङ्गदोषों को जीत लिया है, वे ही केवल 'आज़ाद' या मुक्त हैं।"

किसी व्यक्ति से विशेष भाव से प्रेम करना बन्धन है। सभी से समान रूप से प्रेम करो — तब तुम्हारी सभी वासनायें विलीन हो जायँगी।

सर्वभक्षक काल आने पर सभी को जाना होगा। फिर इस पृथ्वी की उन्नति के लिये और क्षणस्थायी तितली पर रंग चढाने के लिये चेष्टा क्यों कर रहे हो? अन्त में तो सभी विनष्ट हो जायँगे। सफेद चूहे के समान पिंजड़े में बैठकर उछल-कूद मत करो। हम सर्वदा व्यस्त रहते हैं और प्रकृत कार्य कुछ होता ही नहीं। वासना चाहे

अच्छी हो, चाहे निकृष्ट, असल में वह खराब ही है। यह मानो कुत्ते के समान मांस-खण्ड पाने के लिये दिनरात हाँफते रहना है और मांस का टुकड़ा तो क्रमशः सामने से हटता जाता है; फिर अन्त में कुत्ते के समान मरना होता है। अतः ऐसे मत बनो। समस्त वासना नष्ट कर डालो।

*   *   *   *

परमात्मा जब मायाधीश रहते हैं, तब उन्हें ईश्वर कहा जाता है, और जब वे माया के आधीन होते हैं, तब वे जीवात्मा कहलाते हैं। समग्र जगत्प्रपञ्च की समष्टि ही माया है, एक दिन वह बिल्कुल उड़ जायगी।

वृक्ष का वृक्षत्व माया है—वृक्ष देखते समय वास्तव में हम भगवत्स्वरूप को ही मायावृत भाव से देखते हैं। किसी घटना के सम्बन्ध में 'क्यों' प्रश्न की जिज्ञासा ही मायान्तर्गत है। अतएव माया कैसे आई यह प्रश्न ही वृथा है, क्योंकि माया के बीच में रहकर उसका उत्तर कभी भी नहीं दिया जा सकता और जब माया के परे चले जाओगे, तब कौन यह प्रश्न पूछेगा? असद् दृष्टि या माया ही 'क्यों' प्रश्न की सृष्टि करती है, किन्तु 'क्यों' प्रश्न से माया आती नहीं—माया ही उस 'क्यों' प्रश्न को पूछती है। भ्रम भ्रम को नष्ट कर देता है। युक्ति-विचार स्वयमेव कुछ विरोध के ऊपर प्रतिष्ठित है, अतएव यह एक वृत्तस्वरूप है, इसीलिये उसे स्वयमेव स्वयं को नष्ट करना होगा। इन्द्रियजन्य अनुभूति एक आनुमानिक ज्ञान है, किन्तु इस प्रकार के सभी आनुमानिक ज्ञान की भित्ति अनुभूति है।

अज्ञान में जब ब्रह्मज्योति प्रतिबिम्बित होती है, तभी उसे देखा

जाता है — स्वतन्त्र भाव से ग्रहण करने पर तो वह शून्यस्वरूप या कुछ भी नहीं है। मेघ में सूर्यकिरण के प्रतिबिम्बित हुए बिना मेघ नहीं देखा जा सकता।

चार लोग देश-भ्रमण करते करते एक खूब ऊँची दीवाल के समीप पहुँचे। प्रथम पथिक अत्यन्त कष्ट से दीवाल पर चढ़ा और पीछे की ओर बिना देखे दीवाल के उस पार कूद पड़ा। द्वितीय पथिक दीवाल पर चढ़ा और उसने भीतर की ओर देखा, देखकर आनन्द-ध्वनि करते हुए भीतर की ओर कूद पड़ा। उसके बाद तीसरा भी दीवाल के ऊपर उठा और 'मेरे साथी लोग कहाँ गये' यह देखने लगा, उसके बाद आनन्द से हा: हा: करके हँसकर उसने अपने साथियों का अनुसरण किया। किन्तु चौथे पथिक ने दीवाल पर चढ़कर पहले यह देखा कि उसके साथियों का क्या हुआ और फिर इस बात को लोगों को बतलाने के लिये वहाँ से लौट आया। इस संसारप्रपंच के परे कुछ है, इस बात का प्रमाण उन महापुरुषों का हास्य है जो माया की दीवाल पर चढ़कर भीतर की ओर कूद पड़े और कूदने के पहले आनन्द से हा: हा: कर हँस पड़े।

*　　*　　*　　*

हम जब उस पूर्ण सत्ता से अपने को पृथक् कर उसमें कुछ गुणों का आरोप करते हैं, तभी हम उसे ईश्वर कहते हैं। ईश्वर इस जगत्प्रपंच की वह अन्तर्निहित मूल सत्ता हैं जो हमारे मन के द्वारा अनुभूत हो रही है। और शैतान है कुसंस्काराच्छन्न मन के द्वारा अनुभूत जगत् की समस्त बुराई और दु:खराशि।

२५ जुलाई, बृहस्पतिवार

पातञ्जल योगसूत्र

कार्य तीन प्रकार का हो सकता है — कृत (जो तुम स्वयं करते हो), कारित (जो दूसरों के द्वारा करवाते हो), और अनुमोदित (दूसरे लोग जो करते हैं उसमें तुम्हारा अनुमोदन है, आपत्ति नहीं)। हमारे ऊपर इन तीनों कार्यों का फल प्राय: एक समान होता है।

पूर्ण ब्रह्मचर्य के द्वारा मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति अत्यन्त प्रबल होती है। ब्रह्मचारी को मन-कर्म-वचन से मैथुनवर्जित होना होगा। देह पर आसक्ति भूल जाओ। जहाँ तक हो सके, देहज्ञान छोड़ दो।

जिस अवस्था में स्थिरभाव से और सुखपूर्वक बहुत समय तक बैठा जा सके उसीको आसन कहते हैं। सर्वदा अभ्यास के द्वारा एवं मन को अनन्त भाव से भावित कर सकने पर यह हो सकता है।

एक विषय में सदा-सर्वदा चित्तवृत्ति को प्रवाहित करने का नाम ध्यान है। स्थिर जल में यदि एक प्रस्तर-खण्ड फेंका जाय तो जल में बहुत सी गोलाकार तरङ्गें उठती हैं, वे सब गोलाकार तरङ्गें पृथक् पृथक् हैं, परन्तु फिर भी परस्पर एक दूसरे के ऊपर कार्य करती हैं। हमारे मन के भीतर भी इसी प्रकार वृत्तिप्रवाह चल रहा है; परन्तु हमारे भीतर वह हमारे अनजान में और योगियों के भीतर वह उनकी ज्ञानावस्था में होता रहता है। हम लोग मकड़ी के समान अपने ही जाल के बीच में रहते हैं, योगाभ्यास के द्वारा हम मकड़ी के समान ही इच्छानुसार जाल के किसी भी अंश से निकल सकते हैं। जो योगी नहीं हैं, वे जिस स्थान में रहते हैं, उसी निर्दिष्ट स्थलविशेष में ही आबद्ध होकर रहने के लिये बाध्य हैं।

* * * *

दूसरों की हिंसा करने पर उससे बन्धन आता है, और वह हिंसा हमारे सामने से सत्य को छिपा लेती है। केवल निषेधात्मक धर्मसाधना ही पर्याप्त नहीं है। हमें माया को जीतना होगा, तभी वह हमारे वश में हो जायगी। जब कोई भी वस्तु हमें बाँध नहीं पाती, तभी उस पर हमारा यथार्थ अधिकार होता है। जब बन्धन ठीक ठीक टूट जाता है, तब सब कुछ हमारे निकट आकर उपस्थित होजाता है। जिन्हें किसी वस्तु का अभाव नहीं है अर्थात् जो पूर्णतया वासनाहीन है वे ही प्रकृति पर विजय पाते हैं।

ऐसे किसी महात्मा की शरण में जाओ जिनका अपना बन्धन टूट गया है; समय आने पर वे ही कृपार्द्र होकर तुम्हें मुक्त कर देंगे। ईश्वर की शरणागति इसकी अपेक्षा उच्च भाव है, किन्तु वह बड़ी कठिन है। वास्तव में इसे कार्यरूप में परिणत करनेवाला मनुष्य शताब्दी में कहीं एक-आध देखा जाता है। मैंपन के साथ कुछ भी अनुभव मत करो, कुछ भी मत जानो, कुछ भी मत करो, कुछ भी अपना कहकर मत रखो — सब कुछ ईश्वर में समर्पित कर दो; और सर्वान्तःकरण से कहो, "प्रभो! तुम्हारी ही इच्छा पूर्ण हो।"

हम बद्ध हैं — यह भाव हमारा स्वप्न मात्र है। जागो — यह बन्धन दूर होने दो। ईश्वर की शरण में जाओ, इस मायामरुभूमि को पार करने का एकमात्र यही उपाय है। "छोड़ दो रज्जु, बोलो हे संन्यासि, ॐ तत् सत् ॐ।"

हम दूसरों के प्रति दया प्रकाशित कर पाते हैं, यह हमारा एक विशेष सौभाग्य है — क्योंकि इस प्रकार के कार्य के द्वारा ही हमारी

आत्मोन्नति होगी। लोग मानो इसलिये कष्ट पाते हैं कि उनका उपकार करने से हमारा कल्याण होगा। अतएव दान करते समय दाता ग्रहीता के सामने घुटने टेके और अपने को धन्य समझे; ग्रहीता दाता के सम्मुख खड़ा हो जाय और दान करने की अनुमति दे दे। सभी प्राणियों में विद्यमान प्रभु का दर्शन करते हुए उन्हीं को दान दो। जब हम कुछ भी बुराई नहीं देख पायेंगे, तब हमारे लिये जगत्प्रपंच भी नहीं रहेगा, क्योंकि प्रकृति का उद्देश्य ही है हमें इस भ्रम से मुक्त करना। असम्पूर्णता नामक कोई चीज़ है, यह सोचना ही असम्पूर्णता की सृष्टि करना है। हम पूर्णस्वरूप और ओज:स्वरूप हैं, इस प्रकार सोचने से ही असम्पूर्णता की भावना दूर हो सकती है। चाहे जितना ही अच्छा काम क्यों न करो, किन्तु उसमें कुछ न कुछ बुराई लगी ही रहेगी। फिर अपने व्यक्तिगत फलाफल की ओर बिना देखे समस्त कार्य करते जाओ, तथा कार्यजन्य फलों को ईश्वर में समर्पित कर दो; ऐसा करने पर, अच्छा या बुरा कुछ भी तुम्हें अभिभूत न कर सकेगा।

यह ठीक ही है कि कर्म करना धर्म नहीं है, फिर भी यथोचित रूप से कर्म करना मुक्ति की ओर ले जाता है। वास्तव में दूसरे को करुणा की दृष्टि से देखना अज्ञान मात्र है, क्योंकि हम दु:खित होंगे किसके लिये? क्या तुम ईश्वर को करुणा की दृष्टि से देख सकते हो? फिर ईश्वर छोड़कर और है ही क्या? ईश्वर को धन्यवाद दो कि उन्होंने तुम्हारी आत्मोन्नति के लिये यह जगद्रूप नैतिक व्यायामशाला तुम्हें प्रदान की है। यह कभी मत सोचना कि तुम इस जगत् की सहायता कर सकते हो। तुम्हें यदि कोई गाली दे तो उसके प्रति कृतज्ञ होओ, क्योंकि गाली या अभिशाप क्या है, यह देखने के लिये उसने मानो तुम्हारे

सम्मुख एक दर्पण रखा और वह तुम्हारे लिये आत्मसंयम का अभ्यास करने का एक अवसर दे रहा है। अतएव उसे आशीर्वाद दो और सुखी बनो। अभ्यास करने का अवसर मिले बिना व्यक्ति का विकास नहीं हो सकता, और दर्पण सामने रखे बिना हम अपना मुख नहीं देख सकते।

अपवित्र चिन्ता अपवित्र क्रिया के समान ही दोषकर है। कामेच्छा का दमन करने पर उससे उच्चतम फल लाभ होता है। कामशक्ति को आध्यात्मिक शक्ति में परिणत करो, किन्तु अपने को पुरुषत्वहीन मत बनाओ, क्योंकि उससे शक्ति का क्षय होगा। यह शक्ति जितनी प्रबल होगी, इसके द्वारा उतना ही अधिक कार्य हो सकेगा। प्रबल जलधारा मिलने पर ही उसकी सहायता से खानि का कार्य किया जा सकता है।

आजकल हमारे लिये विशेष आवश्यक यही है कि हम यह जान लें कि एक ईश्वर हैं, और यहीं एवं इसी समय हम उनका अनुभव कर सकते हैं—उन्हें देख सकते हैं। शिकागो के एक प्राध्यापक ने कहा —"इस जगत् की ओर ही तुम ध्यान दो, ईश्वर परलोक की खबर ले लेंगे।" कैसी मूर्खताभरी बात है! यदि हम इस जगत् की सब तरह की व्यवस्था करने में समर्थ हैं, तो फिर परलोक का भार ग्रहण करने के लिये एक ऐसे अकारण ईश्वर की क्या आवश्यकता है?

२६ जुलाई, शुक्रवार

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

सभी वस्तुओं से प्रेम करो—केवल आत्मदृष्टि से ही और आत्मा के लिये ही। याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहा था, "आत्मा के

द्वारा ही हम सभी वस्तुओं को जान पाते हैं।" आत्मा कभी भी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता—जो स्वयं ज्ञाता है, वह ज्ञेय कैसे हो सकता है? जिन्होंने अपने को आत्मस्वरूप जाना है उनके लिये विधिनिषेध नहीं रहता। उन्हें ज्ञात होगया है कि वे ही इस जगत्प्रपञ्च के रूप में हैं, और इसके स्रष्टा भी हैं।

* * * *

पुरातन पौराणिक घटनाओं को रूपक के आकार में चिरस्थायी करने की चेष्टा करने से एवं उन्हें अत्यधिक महत्व देने से कुसंस्कार की उत्पत्ति होती है, और यह सचमुच दुर्बलता है। सत्य के साथ कभी भी किसी प्रकार का समझौता नहीं होना चाहिये। सत्य का उपदेश दो, और किसी प्रकार से भी कुसंस्कार के पक्ष में युक्ति देने की चेष्टा मत करो, अथवा शिक्षार्थी की धारणा-शक्ति के उपयोगी बनाने के लिये सत्य को तोड़ मरोड़कर नीचे लाने की कोशिश मत करो।

२७ जुलाई, शनिवार

(कठोपनिषद्)

अपरोक्षानुभूतिसम्पन्न व्यक्ति को छोड़कर किसी अन्य के पास आत्मतत्व जानने के लिये मत जाना। दूसरों के पास तो केवल बातें ही बातें हैं। प्रत्यक्षानुभूति होने पर मनुष्य धर्माधर्म, भूत-भविष्यत् आदि सभी प्रकार के द्वन्द्वों के परे चला जाता है। निष्काम व्यक्ति ही उस आत्मा का दर्शन करते हैं, और उन्हें शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है। केवल बातें, विचार, शास्त्रपाठ और बुद्धि का चूडान्त परिचालन, यहाँ तक कि वेद भी मनुष्य को यह आत्मज्ञान नहीं दे सकते।

हमारे भीतर जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही हैं। ज्ञानी लोग जीवात्मा को छायास्वरूप और परमात्मा को यथार्थ सूर्यस्वरूप जानते हैं।

हम यदि मन को इन्द्रियों के साथ संयुक्त न करें, तो हमें चक्षु, कर्ण, नासिका प्रभृति इन्द्रियों के द्वारा किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। मन इन बहिरिन्द्रियों का व्यवहार करता है। इन्द्रियों को बाहर मत जाने दो — तभी तुम देह एवं बहिर्जगत् के बन्धन से मुक्त हो सकोगे।

यह जो अज्ञात वस्तु है, उसीको हम बहिर्जगद्रूप में देखते हैं। मृत्यु के बाद अपने अपने मन की अवस्थानुसार इसी को कोई स्वर्ग-रूप में और कोई नरक-रूप में देखते हैं। इहलोक और परलोक — ये दोनों ही स्वप्नमात्र हैं, परलोक भी इहलोक के ही नमूने का है। इन दोनों प्रकार के स्वप्नों से मुक्त हो जाओ। जान लो — सभी सर्वव्यापी है, सर्वत्र वर्तमान है। प्रकृति, देह और मन की ही मृत्यु होती है, हमारी मृत्यु नहीं होती, हम तो न जाते हैं, न आते हैं। यह जो स्वामी विवेकानन्द नाम का मनुष्य है — इसकी सत्ता प्रकृति के भीतर है। अतएव इसका जन्म भी हुआ है और इसकी मृत्यु भी होगी। किन्तु परमात्मा — जिनका हम स्वामी विवेकानन्द-रूप में दर्शन कर रहे हैं — उनका न कभी जन्म है, न मृत्यु; वे अनन्त और अपरिणामी सत्ता हैं।

हम चाहे मनःशक्ति को पंचेन्द्रिय शक्तियों में विभक्त करें या एक शक्ति-रूप में देखें, वह सदैव एक ही रहती है। एक अन्धा मनुष्य कहता है, 'प्रत्येक वस्तु की एक एक विभिन्न प्रकार की प्रतिध्वनि होती है, अतएव मैं हाथ से ठोककर विभिन्न वस्तु की प्रतिध्वनि के द्वारा अपने चारों ओर की वस्तुओं को यथार्थ रूप में बतला सकता

हूँ।' अतएव एक अन्धा व्यक्ति एक आँखवाले व्यक्ति को निबिड़ कुहरे के भीतर से अनायास ही पथ दिखलाता हुआ ले जा सकता है; क्योंकि उसके लिये कुहरा और अन्धकार में कोई भेद नहीं है।

मन का संयम करो, इन्द्रियों का निरोध करो, तभी तुम योगी हो पाओगे; तभी शेष सब कुछ प्राप्त हो जायगा। सुनना, देखना, सूँघना और स्वाद लेना अस्वीकार कर दो; बहिरिन्द्रियों से मनःशक्ति को खींच लो। जब तुम्हारा मन किसी विषय में मग्न रहता है, तब तुम अज्ञात रूप से यह क्रिया सर्वदा करते ही रहते हो, अतएव ज्ञात रूप से भी तुम इसे करने का अभ्यास कर सकते हो। मन अपनी इच्छा के अनुसार कहीं भी इन्द्रियों का प्रयोग कर सकता है। इस मूल कुसंस्कार को कि हमें देह की सहायता से ही काम करना होगा बिल्कुल छोड़ दो। वास्तव में यह ऐसा नहीं है। अपने घर में जाकर बैठो और अपनी अन्तरात्मा के भीतर से उपनिषदों के तत्वों का आविष्कार करो। तुम सभी वस्तुओं के अनन्त खानि-स्वरूप हो, भूत-भविष्यत् सभी ग्रन्थों में से तुम्हीं श्रेष्ठ ग्रन्थ हो। जब तक उस अन्तर्वर्ती अन्तर्यामी गुरु का प्रकाश नहीं होता, तब तक बाहर के सभी उपदेश व्यर्थ हैं। बाहर की शिक्षा द्वारा यदि हृदयरूपी ग्रन्थ खुल जाय, तभी कह सकते हैं कि उसका कुछ मूल्य है। हमारी इच्छाशक्ति ही वह 'क्षुद्र धीर वाणी' है, वही यथार्थ नियन्ता है—वह सदा हमारे लिए विधि-निषेध बतलाती है—कहती है, अमुक कार्य करो, अमुक कार्य मत करो। यही इच्छाशक्ति हमें विविध बन्धनों के भीतर ले आई है। अज्ञ व्यक्ति की इच्छाशक्ति उसे बन्धन में डालती है, वही इच्छाशक्ति यदि ज्ञानपूर्वक परिचालित हो तो हमें मुक्ति दे सकती है। सहस्र सहस्र उपायों से इच्छाशक्ति को

दृढ़ किया जा सकता है, प्रत्येक उपाय ही एक एक प्रकार का योग है; किन्तु प्रणाली-बद्ध योग के द्वारा यह कार्य बड़ी शीघ्रता से साधित हो सकता है। भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग और ज्ञानयोग के द्वारा निश्चित रूप से सफलता प्राप्त की जा सकती है। मुक्ति लाभ करने के लिये तुम्हारे पास जो कुछ शक्ति है, सब लगा दो --- कर्म, विचार, उपासना, ध्यानधारणा समस्त का अवलम्बन करो, सभी पालों को एक साथ उठा दो, सभी यंत्रों को पूरी शक्ति के साथ चलाओ और गन्तव्य स्थान में पहुँच जाओ। इसे जितनी शीघ्रता से कर सको, उतना ही अच्छा है।

* * * *

ईसाइयों का बप्तिस्मा संस्कार (Baptism) बाह्यशुद्धिस्वरूप है — यह अन्तःशुद्धि का प्रतीक या सूचकस्वरूप है। बौद्ध धर्म से इसकी उत्पत्ति हुई है।

ईसाइयों का युखारिस्ट * नामक अनुष्ठान असभ्य जातियों की एक अति प्राचीन प्रथा का अवशेष या चिह्नमात्र है। ये सभी असभ्य जातियाँ कभी कभी अपने बड़े बड़े नेताओं को मारकर उनका मांस इस हेतु खाती थीं कि उनके नेताओं के सब महान् गुण उनमें भी आ जायँ। उन लोगों का विश्वास था कि उनके नेता सभी लोगों की अपेक्षा अधिक वीर्यवान्, साहसी और ज्ञानी हुए थे, इस उपाय से वे सभी शक्तियाँ

---

* Eucharist or the Lord's Supper:— बाइबिल के न्यू टेस्टामेन्ट में लिखा है कि ईसा मसीह अपने देहत्याग से पूर्व सभी शिष्यों को एकत्रित कर रोटी और मद्य को ईश्वरार्पण कर बोले, 'यह रोटी मेरा मांस है और यह मद्य मेरा रक्त है।' उसके बाद शिष्यों को वह खाने के लिये कहा। ईसाई लोग अभी भी इस दिन का वार्षिक समारोह मनाते हैं, और उसे पूर्वोक्त नाम से संबोधित करते हैं।

उनके भीतर भी आ जाएँगी और केवल एक ही व्यक्ति वीर्यवान और ज्ञानी न होकर समग्र जाति उसी प्रकार की हो जायगी। नरबलि की प्रथा यहूदी जाति में भी थी, और उन लोगों के ईश्वर जिहोवा ने इस प्रथा के लिये उन लोगों को अनेक प्रकार का दण्ड दिया, परन्तु उनमें यह प्रथा पूर्ण रूप से लुप्त नहीं हुई। ईसा स्वयं शान्तप्रकृति और प्रेमी व्यक्ति थे, किन्तु उन्होंने यहूदी जाति के विश्वास के साथ मेल रखकर प्रचार करने की चेष्टा की। उसके फलस्वरूप ईसाइयों में इस मतवाद की उत्पत्ति हुई कि ईसा ने क्रूस में विद्ध होकर समग्र मानव जाति के प्रतिनिधि-स्वरूप में अपनी बलि देकर ईश्वर को सन्तुष्ट किया। यहूदियों में पहले एक प्रथा थी —— उनके पुरोहित लोग मन्त्र पाठ करके बकरियों के ऊपर मनुष्यों के पापों को आरोपित कर उन्हें जंगल में छोड़ देते थे —— यहां बकरी के बदले मनुष्य है, अन्तर केवल इतना ही है। इस निष्ठुर भाव का प्रवेश होने के कारण ईसाई धर्म ईसा की यथार्थ शिक्षा से अत्यन्त दूर जा पड़ा और उसमें दूसरों के ऊपर अत्याचार तथा दूसरों का रक्तपात करने का भाव आ गया।

* * * *

कोई भी कार्य करने के समय ऐसा मत कहो कि, 'यह मेरा कर्तव्य' है, वरन् ऐसा कहो, 'यह मेरा स्वभाव' है।

'सत्यमेव जयते नानृतम्' —— सत्य की ही जय होती है, मिथ्या की नहीं। सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित होओ, तभी तुम भगवान् को प्राप्त कर सकोगे।

* * * *

अति प्राचीन काल से भारतवर्ष में ब्राह्मणजाति ने यह घोषणा की है कि वे सभी प्रकार के विधिनिषेधों के अतीत हैं। वे यह दावा

करते हैं कि वे भूदेव हैं। वे अति दरिद्र अवस्था में रहते हैं, किन्तु दोष उनमें यही है कि वे आधिपत्य या प्रभुत्व चाहते हैं। जो कुछ हो, भारत में प्रायः छः करोड़ ब्राह्मणों का वास है; उनके पास कोई विशेष सम्पत्ति भी नहीं है, और वे अत्यन्त सज्जन एवं नीतिपरायण हैं। और इस प्रकार होने का कारण यही है कि वे बाल्यकाल से ही शिक्षा पाते रहे हैं कि वे विधिनिषेध के अतीत हैं, एवं उनके लिये किसी प्रकार के शासन का विधान नहीं है। वे अपने को द्विज अथवा ईश्वरतनय समझते हैं।

२८ जुलाई, रविवार

(दत्तात्रेयकृत अवधूत-गीता)

"मन की स्थिरता के ऊपर समस्त ज्ञान निर्भर रहता है।"

"जो समग्र जगत्प्रपञ्च में पूर्ण भाव से विराजित हैं, जो आत्मा के आत्मास्वरूप हैं, उन्हें मैं किस प्रकार नमस्कार करूँ?"

"आत्मा को अपना स्वभाव, अपना स्वरूप समझना ही पूर्ण ज्ञान एवं प्रत्यक्षानुभूति है। मैं ही वह हूँ, इस विषय में किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं है।"

"कोई चिन्ता, कोई वाक्य या कोई कार्य हमें बन्धन में नहीं डाल सकता। मैं इन्द्रियातीत हूँ, मैं चिदानन्दस्वरूप हूँ।"

अस्ति नास्ति कुछ नहीं है, सभी आत्मस्वरूप हैं। समस्त आपेक्षिक भाव और समस्त द्वन्द्व को दूर कर दो, सभी कुसंस्कारों को फेंक दो, जाति, कुल, देवता, और भी जो कुछ हैं, सभी चले जायँ। वर्तमान, भविष्यत्—इन सब की बातें क्यों करते हो? द्वैत अद्वैत इन सभी बातों को छोड़ दो। तुम दो थे ही कब, जो द्वैत और अद्वैत की बातें

करते हो। यह जगत्प्रपञ्च वही शुद्ध-बुद्ध-स्वरूप ब्रह्म मात्र है, ब्रह्म को छोड़कर और कुछ भी नहीं है। यह मत कहो कि योग के द्वारा विशुद्धि प्राप्त होगी — तुम स्वयं शुद्धस्वभाव हो। तुम्हें कोई भी शिक्षा नहीं दे सकता।

जिन्होंने यह गीता लिखी है, उनके समान व्यक्ति ने ही धर्म को जीवित रखा है। उन्होंने वास्तव में उस ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार किया है। वे किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते, शरीर के सुख-दुःख की, शीत-उष्ण, विपद्-आपद् अथवा अन्य किसी वस्तु की बिलकुल परवाह नहीं करते। जलते हुए अङ्गार से अपने शरीर के जलने पर भी वे स्थिर भाव से बैठे रहकर आत्मानन्द का अनुभव करते हैं, उनके गात्र जल रहे हैं, इसका उन्हें भास तक नहीं होता।

"ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, ये त्रिविध बन्धन जब दूर हो जाते हैं, तभी आत्मस्वरूप का प्रकाश होता है।"

"जब बन्धन और मुक्ति-रूप भ्रम हट जाता है, तभी आत्मस्वरूप का प्रकाश होता है।"

"मनःसंयम करो तो क्या, और न करो तो भी क्या? तुम्हारा धन रहे तो क्या, न रहे तो भी क्या? तुम तो नित्य शुद्ध आत्मा हो। कहो, मैं आत्मा हूँ, किसी प्रकार का बन्धन मेरे पास नहीं आ सकता। मैं अपरिणामी निर्मल आकाशस्वरूप हूँ; अनेक प्रकार के विश्वास या धारणा रूपी मेघ मेरे ऊपर से होकर जा सकते हैं, किन्तु वे मुझे छू नहीं सकते।"

"धर्माधर्म, पापपुण्य दोनों को ही दग्ध कर डालो। मुक्ति तो

बच्चों की कहानी मात्र है। मैं तो वही अविनाशी ज्ञानस्वरूप हूँ, मैं तो वही शुद्धिस्वरूप हूँ।"

"न कोई कभी बद्ध हुआ है, न कोई कभी मुक्त। मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। मैं अनन्तस्वरूप और नित्य-मुक्त-स्वभाव हूँ। मुझे अब कभी सिखाने के लिये मत आना—मैं चिद्घनस्वभाव हूँ, कौन मेरे इस स्वभाव को बदल सकता है? गुरु भी कौन है, शिष्य भी कौन?"

तर्क-युक्ति, ज्ञानविचार को गड्ढे में फेंक दो। "बद्धस्वभाव मनुष्य ही दूसरों को बद्ध देखता है, भ्रान्त व्यक्ति ही दूसरों को भ्रान्त देखता है, अशुद्धस्वभाव व्यक्ति ही दूसरों को अशुद्ध देखता है।"

देश-काल-निमित्त—ये सभी भ्रम हैं। तुम सोचते हो कि मैं बद्ध हूँ, मुक्त होऊँगा—यह तुम्हारा रोग है। तुम अपरिणामी हो। बातें करना छोड़ दो, चुप होकर बैठे रहो—सभी वस्तुएँ तुम्हारे सामने से उड़ जायँ—वे सब स्वप्नमात्र हैं। पार्थक्य या भेद नामक कोई वस्तु नहीं है, वह सब तो कुसंस्कार मात्र है। अतएव मौन भाव का अवलम्बन करो और अपना स्वरूप पहचानो।

"मैं आनन्दघनस्वरूप हूँ।" किसी आदर्श का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं—तुम्हें छोड़कर और दूसरा है ही क्या? किसी से भय मत करना। तुम सार-सत्तास्वरूप हो। शान्ति में रहो—अपने को चंचल मत करो। तुम कभी बद्ध नहीं हुए हो। पुण्य या पाप तुम्हें स्पर्श नहीं करता। इन सभी भ्रमों को दूर कर दो और शान्ति में रहो। किसकी उपासना करोगे? उपासना भी कौन करेगा? सभी तो आत्मा हैं। कोई बात कहना, या किसी तरह की चिन्ता करना

वु संस्कार है। बारंबार बोलो, 'मै आत्मा हूँ, मैं आत्मा हूँ।' शेष सब उड़ जाने दो।

२९ जुलाई, सोमवार, प्रातःकाल

हम कभी कभी किसी पदार्थ का लक्षण बतलाते समय, उसके आसपास के कुछ व्यापारों का वर्णन करते हैं। इसी को तटस्थ लक्षण कहते हैं। हम जब ब्रह्म को सच्चिदानन्द नाम से अभिहित करते हैं, तब हम वास्तव में उसी अनिर्वचनीय सर्वातीत सत्तारूपी समुद्र के किनारे मात्र का कुछ कुछ वर्णन करते हैं। हम इसे 'अस्ति' स्वरूप नहीं कह सकते, क्योंकि अस्ति कहने से ही उसके विपरीत 'नास्ति' का ज्ञान भी होता है, अतएव वह भी आपेक्षिक है। ब्रह्म के सम्बन्ध में कोई धारणा या किसी प्रकार की कल्पना ठीक ठीक नहीं हो सकती। केवल 'नेति' 'नेति'—यह नहीं, वह नहीं, इन शब्दों से ही उसका वर्णन किया जा सकता है, क्योंकि उसकी चिन्ता करने से ही उसे सीमाबद्ध करना पड़ता है—अतएव वह भी ब्रह्म का यथार्थ भाव नहीं हुआ।

इन्द्रियाँ दिनरात तुम्हें भ्रान्त ज्ञान कराकर प्रतारित करती रहती हैं। वेदान्त ने बहुत पहले ही इस विषय का आविष्कार किया था। आधुनिक विज्ञान हाल ही में इस तत्व को समझने लगा है। वास्तव में एक तस्वीर की केवल लंबाई और चौड़ाई होती है। किन्तु चित्रकार तस्वीर में कृत्रिम रूप मोटाई या गहराई का भाव भी अंकित कर प्रकृति की प्रतारणा का अनुकरण करता है। दो व्यक्ति कभी भी एक ही प्रकार का जगत् नहीं देख पाते। सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करने पर तुम देख पाओगे कि किसी भी वस्तु में न किसी प्रकार की गति है, न

किसी प्रकार का परिणाम। हम लोगों की यह धारणा ही माया है कि 'किसी प्रकार की गति या परिणाम है'। समस्त प्रकृति अर्थात् समस्त गति के तत्व का समष्टि-रूप से निरीक्षण करो। देह और मन कोई भी हमारी यथार्थ आत्मा नहीं है—दोनों ही प्रकृति के अन्तर्गत हैं; किन्तु समय आने पर इनके भीतर के सार सत्य अर्थात् यथार्थ तत्व को हम समझ सकते हैं। उस समय हम देह और मन के परे चले जाते हैं, अतएव देह और मन के द्वारा जो कुछ अनुभव होता है, वह भी चला जाता है। जब तुम इस जगत्प्रपंच को नहीं देख पाओगे, या नहीं जान सकोगे, तभी तुम्हें आत्मोपलब्धि होगी। हमारा यथार्थ प्रयोजन है इस द्वैत या आपेक्षिक ज्ञान का अतिक्रमण करना। अनन्त मन या अनन्त ज्ञान नामक कुछ भी नहीं है, क्योंकि मन और ज्ञान दोनों ही ससीम हैं। हम इस समय आवरण में से देख रहे हैं—उसके बाद क्रमशः आवरण का परित्याग कर हम अपने ज्ञान के सारसत्यस्वरूप उस अज्ञात वस्तु के समीप पहुँच जायँगे।

यदि हम कार्डबोर्ड के एक छोटेसे छेद में से तस्वीर को देखें तो हमें उस तस्वीर के बारे में एक सम्पूर्ण भ्रान्त धारणा होती है, किन्तु तथापि हम जो देखते हैं, वह वास्तव में तस्वीर ही है। छिद्र को हम जितना बढ़ाते जाते हैं, उस तस्वीर के बारे में हमारी धारणा उतनी ही स्पष्ट होती जाती है। हम अपनी नामरूपविषयक भ्रमात्मक उपलब्धि के अनुसार ही सत्यवस्तु के सम्बन्ध में विभिन्न धारणा करते है। और जब हम कार्डबोर्ड को फेंक देते हैं, तब भी हम वही तस्वीर देखते हैं, किन्तु तब उसे ठीक ठीक देख पाते हैं। हम इस तस्वीर में चाहे जितने विभिन्न प्रकार के गुणों या भ्रमात्मक धारणा का आरोप

क्यों न करें, किन्तु तस्वीर में उससे कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा ही सभी वस्तुओं का मूल सत्यस्वरूप है—हम जो कुछ देखते हैं, सभी आत्मा हैं, किन्तु हम उसे जिस प्रकार नामरूप के आकार में देखते हैं, वह वैसी नहीं है। वह नामरूप-आवरण के अन्तर्गत है—मायान्तर्गत है।

ये सब मानो दूरवीक्षण के काँच के ऊपर के दाग हैं; और जैसे सूर्य के प्रकाश द्वारा ही हम ये सब दाग देख पाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मरूप सत्यवस्तु के पृष्ठभाग में न रहने से हम माया को भी नहीं देख पाते। स्वामी विवेकानन्द नाम का मनुष्य इस दूरवीक्षण के काँच के ऊपर का दाग मात्र है। वास्तव में मैं केवल सत्यस्वरूप अपरिणामी आत्मा हूँ, और केवल वह सत्यवस्तु ही मुझे स्वामी विवेकानन्द को देखने में समर्थ बनाती है। सभी भ्रमों की मूलभूत सार-सत्ता है आत्मा—और जैसे सूर्य इस काँच के ऊपर के दागों के साथ कभी भी मिलता नहीं, वह हमें केवल दाग मात्र दिखा देता है, उसी प्रकार आत्मा भी नाम-रूप के साथ कभी भी मिलती नहीं। हमारे शुभ या अशुभ कर्मसमूह इन दागों को केवल घटा या बढ़ा देते हैं, किन्तु ये शुभाशुभ कर्मसमूह हमारे अन्तःस्थित ईश्वर के ऊपर कोई प्रभाव विस्तारित नहीं कर पाते। मन के दागों को पूर्ण रूप से साफ कर डालो। ऐसा करने पर ही हम देख सकेंगे—'मैं और मेरे पिता एक ही हैं।'

हम पहले प्रत्यक्षानुभूति करते हैं, युक्ति-विचार बाद में आता है। हमें यह प्रत्यक्षानुभूति प्राप्त करनी होगी, और यही है प्रकृत धर्म। किसी व्यक्ति ने चाहे शास्त्र, विभिन्न धर्ममत या अवतारों की बात न सुनी हो, किन्तु यदि उसने प्रत्यक्षानुभूति कर ली है तो उसे और किसी

बात का प्रयोजन नहीं रह जाता। चित्त शुद्ध करो — धर्म का यही प्रकृत रहस्य है, और हम जब तक अपने मन के इन दागों को दूर नहीं करते हैं, तब तक हम उस सत्यस्वरूप का ठीक ठीक दर्शन नहीं कर सकते। शिशु संसार में कोई भी पाप नहीं देख पाता, क्योंकि बाहर के पापों का परिमाणनिर्णायक कोई मापदण्ड उसके भीतर है ही नहीं। तुम्हारे भीतर जो सब दोषराशि है, उसे दूर कर डालो — ऐसा करने पर तुम बाहर के दोषों को फिर नहीं देख पाओगे। छोटे लड़कों के सामने डकैती होती है, परन्तु उनका उधर ध्यान ही नहीं रहता, उन्हें वह अन्यायरूप प्रतीत होती ही नहीं। रहस्यमय चित्र के भीतर छिपी हुई वस्तु को यदि तुम एक बार देख लो, तो फिर तुम उसे सर्वदा देख सकोगे। इसी प्रकार जब तुम एक बार मुक्त और निर्दोष हो जाओगे तब तुम जगत्प्रपञ्च के भीतर मुक्ति और शुद्धता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देख पाओगे। उसी क्षण हृदय की सभी ग्रन्थियाँ छिन्न हो जाती हैं, सभी टेढ़ेमेढ़े स्थान सीधे हो जाते हैं, और यह जगत्प्रपञ्च स्वप्न के समान उड़ जाता है। और निद्राभङ्ग होते ही यह सोचकर कि हमने ये सब निरर्थक स्वप्न देखे, हमें आश्चर्य होता है।

"जिसे प्राप्त कर लेने पर पर्वतप्राय दुःख भी हृदय को विचलित नहीं कर पाता," उसे प्राप्त करना होगा।

ज्ञानकुठार द्वारा देह और मन रूपी चक्रद्वय को पृथक् कर डालो — ऐसा करने पर ही आत्मा मुक्तस्वरूप होकर पृथग्भाव से स्थित हो सकेगी — यद्यपि पुराने वेग में उस समय भी देह-मनरूपी चक्रद्वय कुछ देर के लिये चलते रहेंगे। परन्तु उस समय चक्र सीधे ही चलेंगे, अर्थात् इस देह-मन के द्वारा शुभ कार्य ही होगा। यदि उस

शरीर के द्वारा कुछ बुरे कार्य होते हैं, तो समझ लो, वह व्यक्ति जीवन्मुक्त नहीं है — यदि वह अपने को जीवन्मुक्त कहलाने का दावा करता है तो उसकी यह बात मिथ्या है। यह समझना होगा कि जिस समय चित्तशुद्धि के द्वारा चक्र की गति अत्यन्त सरल हो गई हो, उसी समय उस पर कुठाराघात सम्भव है। सभी शुद्धिकारक कर्म अज्ञान को ज्ञात या अज्ञात रूप में नष्ट करते हैं। दूसरे को पापी कहने से बढ़कर और कोई बुरा कार्य नहीं है। शुभ कार्य बिना समझ के भी यदि किया जाय, तो भी उसका फल अच्छा ही होता है — वह बन्धन-मोचन में सहायता करता है।

दूरबीन के काँच के दागों को देखकर सूर्य को भी दागयुक्त समझना हमारा मुख्य भ्रम है। वह 'अहं'-रूपी सूर्य किसी प्रकार के बाह्य दोषों से कभी भी लिप्त नहीं है, यह समझ रखो और अपने को इन दागों को हटाने में नियुक्त करो। मनुष्य से बढ़कर श्रेष्ठ प्राणी और कोई नहीं है। कृष्ण, बुद्ध और ईसा के समान मनुष्यों की उपासना ही सर्वश्रेष्ठ उपासना है। तुम्हें जिस किसी वस्तु का अभाव-बोध होता है, उसकी सृष्टि तुम्हीं करते हो — वासनामुक्त हो जाओ। "वासना से जगत्सृजन, करो जीव वासनावर्जन।"

*　　*　　*　　*

देवतागण और परलोकगत व्यक्तिगण सभी इसी जगत् में रहते हैं — इसी जगत् को वे स्वर्ग-रूप में देखते हैं। एक ही अज्ञात वस्तु को सभी अपने अपने मन के भाव के अनुसार भिन्न भिन्न रूप में देखते हैं। किन्तु इस पृथ्वी पर इस अज्ञात वस्तु का सर्वापेक्षा उत्कृष्ट दर्शन प्राप्त हो सकता है। कभी भी स्वर्ग में जाने की इच्छा मत करो —

यही सर्वापेक्षा आकृष्ट भ्रम है। इस पृथ्वी में भी खूब अधिक धनवान तथा निर्धन होना दोनों ही बन्धन हैं—दोनों ही हमें धर्म-पथ से—मुक्तिपथ से दूर रखते हैं। तीन वस्तुएँ इस पृथ्वी में बहुत दुर्लभ हैं—प्रथम, मनुष्य देह (मनुष्य के मन में ही ईश्वर का उत्कृष्ट प्रतिबिम्ब विद्यमान है;—बाइबिल में है, "मनुष्य ईश्वर का प्रतिमूर्ति-स्वरूप है")। द्वितीय, मुक्त होने के लिये प्रबल आकांक्षा। तृतीय, महापुरुषों का आश्रयलाभ—जो स्वयं माया-मोह-समुद्र को पार कर गये हैं, ऐसे महात्मा को गुरुरूप में प्राप्त करना।* इन तीनों की यदि प्राप्ति हो जाय तो भगवान् को धन्यवाद दो, तुम अवश्यमेव मुक्त होओगे।

केवल तर्क-युक्ति के द्वारा तुम्हें जो सत्य का ज्ञान होता है, वह किसी एक नवीन तर्क-युक्ति के द्वारा उड़ भी सकता है, किन्तु तुम जो प्रत्यक्ष अनुभव करते हो, वह कभी नष्ट नहीं होगा। धर्म के सम्बन्ध में केवल वाक्चातुरी से कुछ फल नहीं होता। जिस किसी वस्तु के संपर्क में आओ—जैसे मनुष्य, जानवर, आहार, क्रियाकलाप—सभी के भीतर ब्रह्मदर्शन करो—और इस प्रकार के सर्वत्र ब्रह्मदर्शन को अभ्यास में परिणत करो।

(अमेरिका के विख्यात अज्ञेयवादी) इङ्गरसोल ने मुझसे एकबार कहा था—"इस जगत् से जितना अधिक लाभ प्राप्त किया जा सके उसे प्राप्त करने की चेष्टा सभी को करनी चाहिये—यह मेरा विश्वास है। संतरे को निचोड़कर जितना निकल सके सभी रस निकाल लें—जिससे रस का एक बूँद भी व्यर्थ न जाय—क्योंकि हम

---

* दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥ —विवेकचूड़ामणि।

इस जगत् को छोड़कर अन्य किसी जगत् के अस्तित्व के सम्बन्ध में निश्चित नहीं हैं।" मैंने उन्हें उत्तर दिया — "मैं आपकी अपेक्षा इस जगत्‌रूपी संतरे को निचोड़ने की और अधिक उत्कृष्ट प्रणाली जानता हूँ — और मैं उससे अधिक रस प्राप्त करता हूँ। मैं जानता हूँ, मेरी मृत्यु नहीं है, अतएव मुझे रस निचोड़ने की जल्दी नहीं पड़ी है। मैं जानता हूँ, भय का कोई कारण नहीं है — अतएव अच्छी तरह धीरे धीरे आनन्दपूर्वक निचोड़ता हूँ। मेरा कोई कर्तव्य नहीं है, मुझे स्त्री-पुत्रादि और विषय-संपत्ति का कोई बन्धन नहीं है, मैं सभी नर-नारियों से प्रेम रख सकता हूँ। सभी मेरे लिये ब्रह्मस्वरूप हैं। मनुष्य को भगवान् समझकर उसके प्रति प्रेम रखने में कितना आनन्द है — एक बार स्वयं अनुभव करके देखिये न! संतरे को इस रूप से निचोड़ कर देखिये — अन्य रूप से निचोड़ने पर आप जो रस पायेंगे, उसकी अपेक्षा इस प्रकार निचोड़ने पर दस हजार गुना अधिक रस पायेंगे — रस का एक बूँद भी व्यर्थ न जायगा।"

जिसे हम 'इच्छा' समझते हैं, वास्तव में वही हमारी अन्तरस्थ आत्मा है, और वह मुक्तस्वभाव है।

सोमवार, अपराह्न

ईसा मसीह असम्पूर्ण थे, क्योंकि उन्होंने जिस आदर्श का प्रचार किया था, उसके अनुसार सम्पूर्ण भाव से उन्होंने जीवन यापन नहीं किया और सर्वोपरि बात तो यह है कि उन्होंने नारी जाति को पुरुष के तुल्य अधिकार नहीं दिया। स्त्रियों ने ही उनके लिये सब कुछ किया, किन्तु वे यहूदियों के देशाचार द्वारा इतने बद्ध थे कि एक स्त्री को भी वे 'प्रेरित शिष्या' (Apostle) न बना सके। तथापि

उच्चतम चरित्र की दृष्टि से बुद्ध के बाद उनका स्थान है — इसी तरह बुद्ध भी एकान्ततः सम्पूर्ण रहे हों सो भी नहीं है। जो कुछ हो, परन्तु बुद्ध ने धर्मराज्य में पुरुषों के समान ही स्त्रियों का भी अधिकार स्वीकार किया था, और उनकी अपनी स्त्री ही उनकी प्रथम और प्रधान शिष्या थीं। वह बौद्ध भिक्षुणियों की अधिनायिका हुई थीं। किन्तु हमें इन महापुरुषों का दोषानुसन्धान करना उचित नहीं। हमें उनके बारे में केवल यही धारणा रखनी चाहिये कि वे हमारी अपेक्षा अनन्त गुने श्रेष्ठ थे। कोई कितना ही बड़ा क्यों न हो, उस पर केवल विश्वास करके ही हमें पड़े न रहना चाहिये, हमें भी बुद्ध और ईसा बनना होगा।

किसी व्यक्ति के दोष या उसकी असम्पूर्णता देखकर उसके बारे में विचार करना उचित नहीं है। मनुष्य का जो महासद्गुण देखा जाता है, वह उसका अपना है, किन्तु उसके दोष मनुष्य जाति की सर्वसाधारण दुर्बलता मात्र हैं; अतएव उनके चरित्र का विचार करते समय उन सभों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिये।

* * * *

अंग्रेजी व्हर्चू (Virtue) (धर्म) शब्द संस्कृत 'वीर' शब्द से आया है; क्योंकि प्राचीन काल में श्रेष्ठ योद्धा ही श्रेष्ठ धार्मिक कहे जाते थे।

३० जुलाई, मङ्गलवार

ईसा और बुद्ध प्रभृति — ये महापुरुष केवल बहिरवलम्बन-स्वरूप हैं। हम अपनी आभ्यन्तरीण शक्तियों का इन सभी आलम्बनों पर आरोपण मात्र करते हैं। वास्तव में हम स्वयं अपनी प्रार्थना का उत्तर देते हैं।

यह सोचना कि यदि ईसा उत्पन्न न होते, तो मनुष्य जाति का कभी भी उद्धार न होता, घोर नास्तिकता है। मनुष्य-स्वभाव के भीतर जो ऐश्वरिक भाव अन्तर्निहित है, उसे इस प्रकार भूल जाना बड़ा भयानक है—यह ईश्वरी भाव कभी न कभी प्रकाशित होगा ही। मनुष्य-स्वभाव का महत्व कभी मत भूलना। भूत या भविष्य में, न कोई हमारी अपेक्षा श्रेष्ठ ईश्वर था, न होगा। मैं ही वह अनन्त महासमुद्र हूँ—ईसा, बुद्ध प्रभृति उसकी तरंगें मात्र हैं। तुम अपने परमात्मा को छोड़ और किसी के सामने शिर मत नमाओ। जब तक तुम यह अनुभव नहीं करते कि तुम स्वयं देवों के देव हो तब तक तुम मुक्त नहीं हो सकते।

हमारे सभी अतीत कर्म वास्तव में अच्छे हैं, क्योंकि हमारी जो चरमावस्था होगी, उसी ओर हमारे ये सभी कर्म हमें ले जाते हैं। किसके निकट मैं भिक्षा-याचना करूँगा?—मैं ही यथार्थ सत्ता हूँ, और जो कुछ मेरी सत्ता से विभिन्न रूप से प्रतीयमान होता है, वह तो स्वप्न मात्र है। मैं ही समग्र समुद्र हूँ—तुम स्वयं इस समुद्र में जिस एक क्षुद्र तरङ्ग की सृष्टि करते हो, उसे 'मैं' मत कहो। यह जान लो कि वह तो उस समुद्र की तरङ्ग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सत्यकाम (अर्थात् सत्यलाभ के लिये जिन्हें प्रबल आकांक्षा हुई है) ने सुना था कि उनकी हृदयाभ्यन्तरस्थ वाणी उनसे कह रही है, "तुम अनन्तस्वरूप हो, वही सर्वव्यापिनी सत्ता तुम्हारे भीतर विराजमान है। अपने को संयत करो, और तुम अपनी यथार्थ आत्मा की वाणी सुनो।"

जो महापुरुष प्रचार-कार्य के लिये अपना जीवन समर्पित कर देते हैं वे उन महापुरुषों की तुलना में अपेक्षाकृत असम्पूर्ण हैं जो

निर्जन नीरव स्थान में महापवित्र जीवन यापन करते हैं, एवं श्रेष्ठ-श्रेष्ठ भावों का चिन्तन करते हुए जगत् की सहायता करते हैं। इन सभी शान्तिप्रिय निर्जनवासी महापुरुषों में एक के बाद दूसरे का आविर्भाव होता है—अन्त में उनकी शक्ति का चरम फलस्वरूप ऐसा कोई शक्तिसम्पन्न पुरुष आविर्भूत होता है, जो उन तत्वों का प्रचार चारों दिशाओं में करता रहता है।

* * * *

ज्ञान स्वयमेव वर्तमान है, मनुष्य केवल उसका आविष्कार मात्र करता है। वेदसमूह ही यह चिरन्तन ज्ञान है जिसकी सहायता से ईश्वर ने इस जगत् की सृष्टि की है। भारत के दार्शनिकगण उच्चतम दार्शनिक तत्व बतलाते हैं और साथ ही इस बात का वे दावा भी करते हैं।

जो सत्य है, उसे साहसपूर्वक निर्भीक होकर लोगों से कहो—इस सत्यप्रकाश के कारण व्यक्तिविशेष को कष्ट हुआ या नहीं, इस ओर ध्यान मत दो। सत्य की ज्योति बुद्धिमान् मनुष्यों के लिये भी यदि अत्यधिक मात्रा में प्रखर प्रतीत होती है, वे यदि उसे सह नहीं सकते, सत्यरूपी बाढ़ यदि उन्हें बहा ले जाती है तो ले जाने दो—वे जितना शीघ्र बह जाएंगे उतना अच्छा ही है। बच्चों के से भाव बच्चों को तथा जंगली असभ्यों को ही शोभा देते हैं; किन्तु देखा जाता है कि ये सब भाव केवल बच्चों के ही कमरों या जंगलों में ही आबद्ध नहीं हैं, इन सभी भावों में से अनेक भाव धमप्रचारका क आसन पर भी पाये जाते हैं।

विशेष रूप से आध्यात्मिक उन्नति होने पर फिर साम्प्रदायिक बन्धन में आबद्ध रहना अन्याय है। उससे बाहर निकलकर स्वाधीनता की मुक्त वायु में जीवन व्यतीत करो।

जो कुछ उन्नति होती है, वह इस व्यावहारिक या आपेक्षिक जगत् में ही होती है। मानवदेह ही सर्वश्रेष्ठ देह है, एवं मनुष्य ही सर्वोच्च प्राणी है, क्योंकि इस मानवदेह तथा इस जन्म में ही हम इस आपेक्षिक जगत् से सम्पूर्णतया बाहर हो सकते हैं,—निश्चय ही मुक्ति की अवस्था प्राप्त कर सकते हैं, और यह मुक्ति ही हमारा चरम लक्ष्य है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि ऐसी बात नहीं कि केवल हमीं मुक्तिलाभ कर सकते हैं, बहुत से अन्य व्यक्ति भी इस जीवन में मुक्तावस्था प्राप्त कर चुके हैं, पूर्णता प्राप्त कर चुके हैं। अतएव कोई भी इस देह को त्यागकर कितनी ही सूक्ष्म से सूक्ष्मतर देह क्यों न प्राप्त करे, वह उस समय भी आपेक्षिक जगत् के भीतर ही रहता है, वह हमसे अधिक और कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि मुक्तिलाभ के अतिरिक्त और कौन सी उच्चावस्था का लाभ किया जा सकता है?

देवता (Angels) कभी कोई बुरे कार्य नहीं करते, इसलिये उन्हें कभी दण्ड भी प्राप्त नहीं होता; अतएव वे मुक्त भी नहीं हो सकते। सांसारिक धक्का ही हमें जगा देता है, वही इस जगत्स्वप्न को भंग करने में सहायता पहुँचाता है। इस प्रकार के लगातार आघात ही इस जगत् की असम्पूर्णता के परिचायक हैं, वे ही इस संसार से छुटकारा पाने की अर्थात् मुक्तिलाभ करने की हमारी आकांक्षा को जागृत करते हैं।

किसी वस्तु की जब हम अस्पष्ट भाव में उपलब्धि करते हैं, तब हम उसका एक नाम रखते हैं, और फिर जब उसी वस्तु की उपलब्धि हम पूर्ण रूप से कर लेते हैं, तब उसको एक दूसरा नाम दे देते हैं। हमारी नैतिक प्रकृति जितनी उन्नत होती है, उतनी ही हमें उत्कृष्टतर उपलब्धि भी होती है, और उतनी ही हमारी इच्छाशक्ति भी अधिक बलवती होती है।

मङ्गलवार, अपराह्न

जड़ और चिन्ताराशि के भीतर हम जो सामञ्जस्य देखते है, उसका कारण यह है कि वे दोनों ही एक अज्ञात वस्तु के दो पहलू हैं; वही वस्तु दो भागों में विभक्त हो बाह्य और आन्तर रूप में स्थित है।

अंग्रेजी का 'पैराडाइज़' शब्द संस्कृत 'परदेश' शब्द से आया है, यह शब्द फारसी भाषा में चला गया था—इसका अर्थ होता है देश का पार अथवा अन्य देश या अन्य लोक। प्राचीन आर्यलोग सर्वदा आत्मा में विश्वास करते थे, वे मनुष्य को केवल देह कभी भी नहीं समझते थे। उनके मत में स्वर्ग नरक दोनों ही सान्त हैं, क्योंकि कोई भी कार्य अपने कारण के नष्ट हो जाने के बाद कभी भी नहीं रह सकता, और कोई भी कारण चिरस्थायी नहीं है; अतएव कार्य या फलमात्र का नाश होगा ही। निम्नलिखित उपाख्यान में समग्र वेदान्त-दर्शन का सार निहित है—

स्वर्णपक्षवाले दो पक्षी एक वृक्ष पर वास करते हैं। ऊपर जो पक्षी बैठा है, वह स्थिर शान्त भाव से अपनी महिमा में स्वयं विभोर होकर रहता है; और जो पक्षी नीचे की डाल पर रहता है, वह सदा चञ्चल रहता है, और वह इस वृक्ष का कभी मीठा फल, कभी कड़ुआ

फल खाता है। एक बार उसने एक अत्यन्त कटु फल खाया; तब कुछ स्थिर होकर ऊपर बैठे हुए उस महिमामय पक्षी की ओर उसने देखा। किन्तु फिर वह उसे शीघ्र ही भूल गया, और पहले के समान ही उस वृक्ष के फल खाने में लग गया। फिर उसने एक कटु फल खाया—इस बार वह फुदक फुदक कर ऊपर की ओर कूदा और ऊपर के पक्षी के कुछ समीप जा पहुँचा। इस प्रकार अनेक बार हुआ, अन्त में नीचे का पक्षी बिल्कुल ऊपर के पक्षी के स्थान पर जा बैठा, और अपने को खो बैठा—अर्थात् ऊपरवाले पक्षी के साथ एकरूप हो गया। अब उसे यह ज्ञान हुआ कि दो पक्षी कभी भी नहीं थे, वह स्वयमेव सर्वदा शान्त स्थिर भाव से स्वमहिमा में स्वयं मग्न, ऊपरवाले पक्षी का ही प्रतिबिम्ब मात्र था।

३१ जुलाई, बुधवार

प्रॉटेस्टैन्ट-धर्म-संस्थापक लूथर ने धर्म-साधना के भीतर से संन्यास या त्याग को दूर कर उसके स्थान में केवल नीति का प्रचार कर धर्म वस्तु का सर्वनाश कर डाला। नास्तिक और जड़वादी लोग भी नीति-परायण हो सकते हैं, किन्तु धर्मलाभ तो केवल ईश्वरविश्वासी ही कर सकते हैं।

महापुरुषों की पवित्रता का मूल्य उन लोगों ने दिया है, जिन्हें समाज दुष्ट या बुरा कहता है; इसीलिये उन्हें देखकर हमें घृणा नहीं करनी चाहिये—यह बात हमें सोचनी चाहिये। जैसे गरीबों के परिश्रम के फल से धनी लोगों की विलासिता सम्भव है, वैसा ही आध्यात्मिक जगत् में भी है। भारत के साधारण लोगों की जो इतनी

अवनति देखी जाती है, वह तो मानो मीराबाई, बुद्ध प्रभृति महात्माओं के उत्पादन के लिये प्रकृति द्वारा चुकाया हुआ मूल्य है।*

* * * *

"मैं ही पवित्रात्मा या धार्मिकों की पवित्रता अथवा धर्मस्वरूप हूँ।" "मैं ही सभी का मूल या बीजस्वरूप हूँ, प्रत्येक व्यक्ति उसका विभिन्न प्रकार से व्यवहार करता है, किन्तु सब कुछ मैं ही हूँ।" "मैं ही सब करता हूँ, तुम निमित्तमात्र हो।"

बहुत बकवाद न करो, तुम्हारे भीतर जो आत्मा स्थिर है, उसका अनुभव करो, तभी तुम ज्ञानी होगे। यह है ज्ञान, और शेष सब अज्ञान। जानने की वस्तु एकमात्र ब्रह्म है, वही सब कुछ है।

* * * *

सत्त्वगुण मनुष्य को सुख और ज्ञान के अन्वेषण द्वारा बद्ध करता है, रजोगुण वासना द्वारा बद्ध करता है, और तमोगुण भ्रमज्ञान, आलस्य प्रभृति द्वारा बद्ध करता है। रज, तम—इन दो निकृष्ट गुणों को सत्त्व के द्वारा जीत लो, उसके बाद सब कुछ ईश्वर में समर्पित कर मुक्त हो जाओ।

भक्तियोगी अति शीघ्र ब्रह्मोपलब्धि करते हैं और तीनों गुणों के अतीत हो जाते ह।

इच्छा, ज्ञान, इन्द्रिय, वासना तथा अन्य सब रिपु ये सब मिलकर, हम जिसे जीवात्मा कहते हैं, उस रूप को धारण करते हैं।

---

* समाज का आदर्श अत्यन्त उच्च होने पर सभी उसका पालन नहीं कर पाते, अधिकांश व्यक्ति आदर्श पालन करने की चेष्टा में हीनावस्था को प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु फिर भी उनकी सहायता के बिना इस आदर्श का पालन असंभव है। जैसे सौ सैनिकों ने शत्रुपक्ष पर आक्रमण किया। उनमें से अस्सी व्यक्ति मर गये, बीस व्यक्ति कृतकार्य हुए। क्या इन अस्सी सैनिकों ने इस युद्धजय में मूल्य प्रदान नहीं किया? ठीक ऐसा ही यहाँ भी समझना चाहिये।

प्रथम, प्रातिभासिक आत्मा (देह) है; द्वितीय, मानसात्मा है — जो देह को ही 'मैं' समझता है; तृतीय, यथार्थ आत्मा हैं जो नित्यशुद्ध, नित्यमुक्त हैं। उन्हें आंशिक भाव से देखने पर वे प्रकृति-रूप से ज्ञात होते हैं, पर उन्हीं को पूर्ण भाव से देखने पर समस्त प्रकृति उड़ जाती है; इतना ही नहीं, उसकी स्मृति भी लुप्त हो जाती है। प्रथम — परिणामी और अनित्य है, द्वितीय — प्रवाहरूप से नित्य (प्रकृति) है, तृतीय — कूटस्थ नित्य आत्मा हैं।

* * * *

आशा का सम्पूर्ण रूप से त्याग कर दो, यही है सर्वोच्च अवस्था। आशा किस बात के लिये करें? आशा का बन्धन छिन्न कर डालो, अपनी आत्मा का ही आश्रय लो, स्थिर होओ; जो करो, सब भगवान् में अर्पण कर दो, किन्तु उसमें किसी प्रकार का कपट न करो।

भारत में किसी से कुशल प्रश्न पूछते समय 'स्वस्थ' (जिससे 'स्वास्थ्य' शब्द आया है) संस्कृत शब्द का व्यवहार होता है — स्वस्थ शब्द का अर्थ स्व अर्थात् आत्मा में प्रतिष्ठित होना। हिन्दू लोगों ने जब कोई वस्तु देखी है, तो उस वस्तु का बोध यदि उन्हें दूसरों को कराना होता है तो वे कहते हैं, मैंने एक पदार्थ देखा है। 'पदार्थ' का अर्थ है, पद या शब्द का अर्थ अर्थात् शब्द-प्रतिपाद्य भावविशेष। इतना ही नहीं, यह जगत्प्रपंच भी उनके लिये एक 'पदार्थ' अर्थात् शब्दप्रतिपाद्य भावविशेष है।

जीवन्मुक्त पुरुष का शरीर अपने आप ही शुभ कार्य करता है। वह केवल शुभ कार्य ही कर सकता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण रूप से

पवित्र हो गया है। जिस अतीत संस्काररूपी वेग के द्वारा उनका देहचक्र परिचालित होता है, वे सब शुभ संस्कार हैं। बुरे संस्कार सब दग्ध हो गये हैं।

* * * *

"यदच्युत-कथालाप-रस-पीयूष-वर्जितम्।
तद्दिनं दुर्दिनं मन्ये मेघाच्छन्नं न दुर्दिनम्॥"

——यथार्थ दुर्दिन वही कहा जाता है, जिस दिन हम भगवत्कथा वर्णन नहीं करते; जिस दिन आँधी-वर्षा होती है, उस दिन को वास्तव में 'दुर्दिन' नहीं कहा जाता।

उस परम प्रभु के प्रति प्रेमभाव रखने का नाम ही यथार्थ भक्ति है। अन्य किसी पुरुष के प्रति प्रेमभाव रखने का नाम भक्ति नहीं है, चाहे वह कितने ही बड़े क्यों न हों। यहाँ परम प्रभु का अर्थ है परमेश्वर। तुम लोग पाश्चात्य देश में व्यक्तिस्वरूप ईश्वर (Personal God) कहने से जो समझते हो, भारत में परमेश्वर की धारणा उसकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है। "जिनसे इस जगत्प्रपञ्च की उत्पत्ति हुई है, जिनमें यह अवस्थित रहता है और प्रलयकाल में यह जिनमें लय हो जाता है, वे ही ईश्वर हैं; वे नित्य, शुद्ध, सर्वशक्तिमान्, सदामुक्तस्वभाव, दयामय, सर्वज्ञ, सभी गुरुओं के गुरु एवं अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप हैं।"

मनुष्य अपने मस्तिष्क से भगवान् की सृष्टि नहीं करता; किन्तु उसे जितनी शक्ति है, उसके अनुसार वह उनके बारे में धारणा कर सकता है और उसकी जो सर्वोत्कृष्ट धारणायें हैं, उन्हें वह उनमें आरोपित करता है। इसी एक एक गुण के द्वारा पूर्ण ईश्वर निर्दिष्ट होते

हैं, और इस एक एक गुण के द्वारा पूर्ण ईश्वर को समझना ही वास्तव में व्यक्तिस्वरूप ईश्वर की दार्शनिक व्याख्या है। ईश्वर निराकार हैं, फिर भी उनके सभी आकार हैं; ईश्वर निर्गुण हैं, फिर उनमें सभी गुण हैं। हम जब तक मानवभावापन्न हैं, तब तक ईश्वर, प्रकृति और जीव — ये तीन सत्तायें हमें स्वीकृत करनी ही पड़ती हैं। उनको बिना स्वीकार किए हम रह ही नहीं सकते।

किन्तु भक्त के लिये यह सब दार्शनिक पार्थक्य केवल व्यर्थ वाग्जाल मात्र है। वह युक्ति-विचार को ग्राह्य ही नहीं समझता, वह विचार नहीं करता — वह प्रत्यक्ष अनुभव को ही श्रेष्ठ समझता है। वह ईश्वर के शुद्ध प्रेम में आत्महारा हो जाना चाहता है; और ऐसे अनेक भक्त हो गये हैं, जो कहते हैं, मुक्ति की अपेक्षा यही अवस्था अधिक वांछनीय है। वे कहते हैं — "चीनी होना अच्छा नहीं, किन्तु चीनी खाना अच्छा है" — मैं उस परम प्रेमास्पद को प्यार करना चाहता हूँ, उनका उपभोग करना चाहता हूँ।

भक्तियोग में प्रथम विशेष प्रयोजन है निष्कपट और प्रबल भाव से ईश्वर का अभावबोध करना। हम ईश्वर को छोड़कर और सभी कुछ चाहते है, क्योंकि बहिर्जगत् से हमारी सभी वासनायें पूर्ण होती हैं। जब तक हमारा प्रयोजन या अभावबोध जड़जगत् के भीतर ही सीमाबद्ध है, तब तक हम ईश्वर के अभाव का बोध नहीं कर पाते; किन्तु जब हम पर इस जीवन में चारों ओर से प्रबल आघात पड़ते हैं और इस जगत् के सभी विषयों से जब हम निराश हो जाते हैं, तभी किसी उच्चतर वस्तु की हमें आवश्यकता प्रतीत होती है, तभी हम ईश्वर का अन्वेषण करते हैं।

भक्ति हमारी किसी वृत्ति को नष्ट नहीं करती वरन् भक्तियोग की शिक्षा यह है कि हमारी सभी वृत्तियाँ मुक्तिलाभ करने का उपाय-स्वरूप हो सकती हैं। इन सभी वृत्तियों को ईश्वराभिमुख करना होगा——साधारणतः जो प्रेम अनित्य इन्द्रिय-विषयों में नष्ट किया जाता है, वही ईश्वर को समर्पित करना होगा।

तुम्हारे पाश्चात्य धर्म की धारणा और भक्ति में अन्तर इतना ही है कि भक्ति में भय का कोई स्थान नहीं है——भक्ति के द्वारा किसी पुरुष का क्रोध शान्त करने या किसी को संतुष्ट करने की आवश्यकता नहीं होती। इतना ही नहीं, ऐसे भी भक्त हैं, जो ईश्वर की उपासना पुत्रभाव से करते हैं——इस प्रकार की उपासना का उद्देश्य यही है कि ऐसी उपासना में भय या भयमिश्र भक्ति का कोई भाव नहीं रहता। प्रकृत प्रेम में भय नहीं रह सकता, और जब तक थोड़ा सा भी भय रहेगा, तब तक भक्ति का आरम्भ ही नहीं हो सकता, एवं भक्ति में भगवान् से भिक्षा माँगने का भाव अथवा उनके साथ क्रय-विक्रय करने का भाव नहीं रहता। भगवान् के पास किसी वस्तु के लिये प्रार्थना भक्त की दृष्टि में महान् अपराध है। भक्त कभी भी भगवान् से आरोग्य या ऐश्वर्य की कामना नहीं करता, इतना ही नहीं, वह स्वर्ग तक की भी कामना नहीं करता।

जो भगवान् से प्रेम करना चाहते हैं, भक्त होना चाहते हैं, उन्हें इन सभी वासनाओं की एक पोटली बाँधकर उसे दरवाजे के बाहर फेंककर प्रवेश करना होगा। जो उस ज्योति के राज्य में प्रवेश करना चाहते हैं, उन्हें उसके दरवाजे में प्रवेश करने के पहले ही 'दूकानदारी धर्म' की पोटली बाहर फेंक देनी होगी। मैं ऐसा नहीं कहता कि

भगवान् से जो वस्तु चाही जाती है, वह मिलती नहीं—उनसे तो सब कुछ मिलता है, परन्तु इस प्रकार प्रार्थना करना अत्यन्त निम्न स्तर का धर्म हैं, भिखारियों का धर्म है।

'उषित्वा जाह्नवीतीरे कूपं खनति दुर्मतिः।'—वह व्यक्ति सचमुच मूर्ख है, जो गङ्गा-तीर में वास करता हुआ भी जल के लिये कुआँ खोदता है।

इन सभी आरोग्य, ऐश्वर्य और ऐहिक अभ्युदयों के लिये प्रार्थना करना भक्ति नहीं कहलाती—ये सब अत्यन्त निम्न स्तर के कर्म हैं। भक्ति इसकी अपेक्षा कहीं ऊँची वस्तु है। हम राजाधिराज के सामने जाने की चेष्टा कर रहे हैं। हम वहाँ पर भिखारी के वेश में नहीं जा सकते। यदि हम किसी महाराजा के सम्मुख जाने की इच्छा करें तो क्या भिखारी के समान मैला-कुचैला वस्त्र पहनकर वहाँ जा सकते हैं? कभी नहीं। दरवान हमें फाटक पर से ही भगा देगा। भगवान् राजाधिराज हैं—हम उनके पास कभी भी भिक्षुक के वेश में नहीं जा सकते। दूकानदारों को तो वहाँ प्रवेश करने का अधिकार ही नहीं है—वहाँ पर क्रय-विक्रय बिलकुल ही नहीं हो सकता। तुमलोगों ने बाइबिल में भी पढ़ा होगा, ईसा ने क्रय-विक्रय करनेवालों को मन्दिर के बाहर निकाल दिया था।

इसलिये कहने की आवश्यकता नहीं कि भक्त होने के लिये हमारा प्रथम कर्तव्य यह है कि स्वर्ग आदि की कामनाओं को हम पूर्ण रूप से दूर कर दें। ऐसा स्वर्ग इसी स्थान के समान, इसी पृथ्वी के समान है—अधिक से अधिक इससे कुछ थोड़ा अच्छा होसकता है, बस इतना ही। ईसाइयों की स्वर्ग के बारे में ऐसी धारणा है कि वह

एक अत्यधिक भोगों का स्थान मात्र है; अतः वह भगवान् कैसे हो सकता है? यह जो स्वर्ग जाने की वासना है, वह भोग-सुख की ही कामना है। इस वासना का त्याग करना होगा। भक्त का प्रेम सम्पूर्ण विशुद्ध और निःस्वार्थ होना चाहिये — उसे अपने लिये इहलौकिक या पारलौकिक किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं करनी चाहिये।

"सुख-दुःख, लाभ-क्षति — इन सभों का त्याग कर दिनरात ईश्वर की उपासना करो — एक क्षण भी व्यर्थ मत जाने दो।"

"अन्य सभी चिन्ता छोड़कर सर्वान्तःकरण से ईश्वर की दिनरात उपासना करो। इस प्रकार दिनरात उपासित होने पर, वे अपना स्वरूप प्रकाशित करते हैं, वे अपने उपासकों को अपनी उपलब्धि में समर्थ करते हैं।"

१ अगस्त, बृहस्पतिवार

प्रकृत गुरु वे ही हैं, जो हमारे आध्यात्मिक पूर्वपुरुष हैं — हम लोग जिनकी आभ्यन्तरिक आध्यात्मिकता के उत्तराधिकारी हैं। वे ही वह साधन है, जिसमें से होकर आध्यात्मिक प्रवाह हम लोगों में प्रवाहित होता है। वे ही समग्र आध्यात्मिक जगत् के साथ हम लोगों के संयोगसूत्र हैं। व्यक्तिविशेष के ऊपर अतिरिक्त विश्वास करने से दुर्बलता और अन्तःसारशून्य बहिःपूजा आसकती है, किन्तु गुरु के प्रति प्रबल अनुराग से उन्नति अत्यन्त शीघ्र सम्भव है। वे हमारे अन्तःस्थित गुरु के साथ हमारा संयोग करा देते हैं। यदि तुम्हारे गुरु के भीतर यथार्थ सत्य है तो उनकी आराधना करो, यही गुरुभक्ति तुम्हें शीघ्र ही चरम अवस्था में पहुँचा देगी।

श्रीरामकृष्ण शिशुसदृश पवित्रस्वभाव थे। उन्होंने जीवन में

कभी भी रुपये-पैसे का स्पर्श नहीं किया, और वे पूर्ण रूप से कामगन्धहीन थे। बड़े बड़े धर्माचार्यों के समीप जड़ विज्ञान सीखने मत जाओ, उनकी समग्र शक्ति आध्यात्मिक विषयों में प्रयुक्त हुई है। श्रीरामकृष्ण परमहंस के भीतर मनुष्यभाव मर गया था, केवल ईश्वरत्व अवशिष्ट था। वे सचमुच ही पाप को नहीं देख पाते थे—जिन नेत्रों से बहिर्जगत् में पाप का दर्शन होता है, उनकी अपेक्षा वे पवित्रतर दृष्टिसम्पन्न थे। इस प्रकार के बहुत थोड़े से ही परमहंसों की पवित्रता ने समग्र जगत् को धारण कर रखा है। यदि इन सभों की मृत्यु हो जाय, यदि ये सब जगत् का त्याग कर दें, तो जगत् खण्ड खण्ड होकर ध्वंस होजायगा। वे केवल अपना महोच्च पवित्र जीवन यापन करके लोगों का कल्याण करते हैं, किन्तु वे जो दूसरों का कल्याण करते हैं, उन्हें उसकी खबर भी नहीं। वे अपना आदर्श जीवन व्यतीत करके ही सन्तुष्ट रहते हैं।

* * * *

हमारे भीतर जो ज्ञानज्योति वर्तमान है, शास्त्र उसकी ओर केवल संकेत करते हैं और उसकी अभिव्यक्ति करने का उपाय बतला देते हैं, किन्तु जब हम स्वयं उस ज्ञान का लाभ करते हैं, तभी हम शास्त्र को ठीक ठीक समझ पाते हैं। जब तुम्हारे भीतर उस अन्तर्ज्योति का प्रकाश है, तो फिर शास्त्र का क्या प्रयोजन?—तुम केवल अन्तर की ओर दृष्टिपात करो। सम्पूर्ण शास्त्र में जो है, तुम्हारे अपने भीतर में भी वही है, वरन् उसकी अपेक्षा हजार गुना अधिक है। तुम अपने ऊपर अविश्वास कभी न करो, तुम इस जगत् में सब कुछ कर सकते हो। कभी भी अपने को दुर्बल मत समझो, सभी शक्तियाँ तुम्हारे भीतर विद्यमान हैं।

प्रकृत धर्म यदि शास्त्र के ऊपर या किसी महापुरुष के अस्तित्व के ऊपर ही निर्भर रहता है, तो जाने दो वे सब धर्म, जाने दो वे सब शास्त्र। धर्म हमारे भीतर में ही है। कोई गुरु या कोई शास्त्र हमें उसकी प्राप्ति में सहायता मात्र दे सकते हैं, इसके अतिरिक्त वे और कुछ भी नहीं कर सकते; और तो क्या, इनकी सहायता के बिना भी हम अपने भीतर में ही सभी सत्यों का लाभ कर सकते हैं। तथापि शास्त्र और आचार्यगणों के प्रति कृतज्ञ रहो, किन्तु देखो, ये तुम्हें कहीं बद्ध न कर लें; गुरु को ईश्वर समझकर तुम उनकी उपासना करो, किन्तु अन्धभाव से उनका अनुसरण न करो। जहाँ तक हो सके उनसे प्रेम रखो, किन्तु स्वाधीन भाव से चिन्ता करो। किसी प्रकार का अन्धविश्वास तुम्हें मुक्ति नहीं दे सकता, तुम स्वयं अपनी मुक्ति प्राप्त कर लो। ईश्वर के सम्बन्ध में यह एकमात्र धारणा रखो कि वे हमारे नित्य सहायक हैं।

स्वाधीनता का भाव एवं उच्चतम प्रेम—दोनों एक साथ रहने चाहिये, ऐसा होने पर इनमें से कोई भी हमारे बन्धन का कारण नहीं हो सकता। हम भगवान् को कुछ भी नहीं दे सकते, वे ही हमें सब कुछ देते हैं। वे सभी गुरुओं के गुरु हैं। वे हमारी आत्मा की आत्मा हैं, हमारा जो यथार्थ स्वरूप है, वह वे ही हैं। जब वे हमारी आत्मा के अन्तरात्मा हैं, तो हम उनसे प्रेम करेंगे, इसमें आश्चर्य ही क्या है? उन्हें छोड़ और किस व्यक्ति या वस्तु से हम प्रेम कर सकते हैं? हमें "दग्धेन्धनमिवानलम्" होना चाहिये। जब तुम केवल ब्रह्म को ही देखोगे, तब फिर किसका उपकार कर सकोगे? भगवान् का तो उपकार नहीं कर सकते? उस समय सभी संशय नष्ट हो जाते हैं; सर्वत्र

समत्व भाव आ जाता है। तब यदि तुम किसीका कल्याण करते हो, तो स्वयं अपना ही करते हो। यह अनुभव करो कि दान लेनेवाला तुम्हारी अपेक्षा श्रेष्ठ है; तुम जो उसकी सेवा करते हो, उसका कारण यह है कि तुम उसकी अपेक्षा छोटे हो; ऐसा न समझना कि तुम बड़े हो, और वह छोटा है। गुलाब जैसे अपने स्वभाव से ही सुगन्ध का वितरण करना है, और मैं सुगन्ध दे रहा हूँ, इसकी उसे खबर भी नहीं रहती उसी प्रकार तुम भी दान दो।

वे श्रेष्ठ हिन्दू संस्कारक राजा राममोहन राय इस प्रकार के निःस्वार्थ कर्म के अद्भुत दृष्टान्तस्वरूप थे। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन भारत की सहायता में अर्पण कर दिया था। उन्होंने सती-दाह प्रथा को बन्द किया था। साधारणतः लोगों का यह विश्वास है कि यह संस्कारकार्य सम्पूर्णतया अंग्रेजों के द्वारा साधित हुआ है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। राजा राममोहन राय ने ही इस प्रथा के विरुद्ध अन्दोलन आरम्भ किया था एवं इस प्रथा का अन्त करने के लिये सरकार से सहायता प्राप्त करने में उन्हें सफलता मिली थी। जब तक उन्होंने आन्दोलन प्रारम्भ नहीं किया, तब तक अंग्रेजों ने कुछ भी नहीं किया। उन्होंने ब्राह्मसमाज नामक एक विख्यात धर्म-समाज भी स्थापित किया, और एक विश्वविद्यालय की स्थापना के लिये तीन लाख रुपये का चन्दा दिया। वे उसके बाद अलग हो गये और कहा — 'तुम लोग मुझे छोड़कर स्वयं आगे बढ़ो।' नाम-यश तो वे बिल्कुल ही नहीं चाहते थे, अपने लिये किसी तरह की फला-कांक्षा नहीं रखते थे।

बृहस्पतिवार, अपराह्न

जगत्प्रपञ्च अनन्त भाव से अभिव्यक्त होकर सर्वदा चलता रहता है — जैसे घूमनेवाला झूला — आत्मा मानो इस झूले में चढ़कर घूम रहा है। एक एक व्यक्ति इस झूले में से निकल पड़ता है अवश्य, किन्तु झूले की गति का विराम नहीं, एक ही प्रकार की घटना बारंबार होती रहती है, और इसी कारण लोगों का भूत भविष्यत् सब कुछ कहा जा सकता है, क्योंकि वास्तव में सभी वर्तमान है। जब आत्मा एक शृंखला के भीतर आ पड़ती है, तब उसे उस शृंखला का जो कुछ अनुभव या भोग है — सभी कुछ ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार की एक शृंखला या श्रेणी में से आत्मा एक दूसरी शृंखला या श्रेणी में चली जाती है, और किसी किसी श्रेणी में आने पर वह अपने को ब्रह्मस्वरूप अनुभव करती है और फिर सदा के लिये उसमें से बाहर निकल जाती है। इस प्रकार की एक श्रेणी या शृंखलाविशेष की एक प्रधान घटना का अवलम्बन कर समस्त शृंखला को पकड़कर लाया जा सकता है, और उसके भीतर की समग्र घटनाओं का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यह शक्ति सरलता से प्राप्त की जा सकती है, किन्तु इसमें वास्तव में कोई लाभ नहीं है, और इस शक्ति के लाभ के लिये जितनी चेष्टा की जाती है, हमारी आध्यात्मिक साधना में उतनी ही हानि पहुँचती है। इसलिये उन सब विषयों की चेष्टा मत करो, भगवान् की उपासना करो।

२ अगस्त, शुक्रवार

भगवत्साक्षात्कार करने के लिये पहले निष्ठा की आवश्यकता है।

"सब से रसिये सब से बसिये सबका लीजिये नाम।
हाँजी हाँजी करते रहिये बैठिये अपने ठाम॥"

—सभी के साथ आनन्द करो, सभी के साथ रहो, सभी का नाम लो, दूसरों की बातों में हाँ हाँ करते रहो, किन्तु अपना भाव कभी मत छोड़ो। इसकी अपेक्षा उच्चतर अवस्था है—दूसरों के भाव से अपने को यथार्थ रूप से भावित करना। यदि मैं ही सब हूँ तो अपने भाई के साथ यथार्थ भाव से एवं कार्य रूप में सहानुभूति क्यों न कर सकूँगा? जब तक मैं दुर्बल हूँ, तब तक मुझको निष्ठापूर्वक एक मार्ग को पकड़े रहना होगा; किन्तु जब मैं सबल हो जाऊँगा, तब मैं अन्य सभी लोगों के भावों को अनुभव कर सकूँगा, उन भावों के साथ सम्पूर्ण सहानुभूति रख सकूँगा।

प्राचीन काल के लोगों का भाव था—'अन्य सभी भावों को नष्ट कर एक भाव को प्रबल बनाओ।' आधुनिक भाव है—'सभी विषयों में सामञ्जस्य रखकर उन्नति करो।' एक तृतीय मार्ग है—'मन का विकास करो और उसका संयम करो,' उसके बाद जहाँ इच्छा हो वहाँ उसका प्रयोग करो—उससे अति शीघ्र फलप्राप्ति होगी। यह है यथार्थ आत्मोन्नति का उपाय। एकाग्रता सीखो, और जिस ओर इच्छा हो उसका प्रयोग करो। इस प्रकार करने पर तुम्हें कुछ खोना नहीं पड़ेगा। जो समस्त को प्राप्त करता है, वह अंश को भी प्राप्त कर सकता है। द्वैतवाद का अद्वैतवाद में अन्तर्भाव होता है।

"मैंने पहले उसे देखा, उसने भी मुझे देखा, मैंने भी उसके प्रति कटाक्ष किया, उसने भी मेरे प्रति कटाक्ष किया"—इस प्रकार होने लगा—अन्त में दोनों आत्माएँ ऐसे घनिष्ठ रूप से मिल गईं कि दोनों वास्तव में एक हो गईं।

समाधि के दो प्रकार हैं—एक है सविकल्प—इसमें कुछ द्वैत का भास रहता है। और दूसरा निर्विकल्प—इसमें ध्यान के द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय का अभेद हो जाता है।

प्रत्येक विशेष विशेष भाव के साथ सहानुभूतिसम्पन्न होने की शिक्षा तुम्हें ग्रहण करनी होगी, उसके बाद एकदम उच्चतम अद्वैत भाव में तुम्हें छलांग मारकर चले जाना होगा। पहले स्वयं सम्पूर्ण मुक्तावस्था प्राप्त कर लो, उसके बाद इच्छा करने पर फिर अपने को सीमाबद्ध कर सकते हो। प्रत्येक कार्य में अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग करो। कुछ समय के लिये अद्वैत भाव को भूलकर द्वैतवादी होने की शक्ति प्राप्त कर लो, परन्तु अपनी इच्छानुसार फिर से इस अद्वैत भाव का लाभ करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लो।

* * * *

कार्य-कारण सभी माया है, और हम जितने बड़े होंगे, उतना ही समझेंगे कि छोटे छोटे बच्चों की परियों की कथा आज हमें जैसी असम्बद्ध मालूम होती है, उसी प्रकार जो कुछ हम देखते हैं, वह भी ऐसा ही असम्बद्ध है। वास्तव में कार्यकारण-पदवाच्य कुछ भी नहीं है; यह बात हम यथासमय समझ सकेंगे। अतएव यदि कर सको तो जब कोई रूपक-कथा सुनो, तब अपनी बुद्धि को कुछ नीचे ले आओ, मन ही मन इस कथा की पूर्वापर संगति के विषय में प्रश्न मत उठाओ। रूपक-वर्णन और सुन्दर कवित्व के प्रति हृदय में अनुराग का विकास करो, उसके बाद समस्त पौराणिक वर्णनों का कवित्व-दृष्टि से रसास्वादन करो। पुराणचर्चा के समय इतिहास और विचार की दृष्टि मत लाओ। इन सब पौराणिक भावों को अपने मन में प्रवाहाकार में बहने दो।

तुम अपनी आँखों के सामने उन्हें मशाल के समान घुमाओ — मशाल को कौन पकड़े हुए है, यह प्रश्न मत करो। इस प्रकार घुमाने से वह चक्राकार धारण करेगी, इसमें जो सत्य का कण अन्तर्निहित है, वह तुम्हारी समझ में आ जायगा।

सभी पुराण-लेखकों ने जो जो देखा या सुना था, उसी को रूपकाकार में लिखा है — वे कुछ प्रवाहाकार चित्र अङ्कित कर गये हैं। उनके भीतर से केवल उनके प्रतिपाद्य विषय को ही निकाल लेने की चेष्टा करके चित्रों को नष्ट मत कर डालो। वे जिस रूप में हैं उसी रूप में उन्हें ग्रहण करो, उन सब को अपने ऊपर कार्य करने दो। उनका फलाफल देखकर उनका मूल्य आँको — उनमें जो कुछ उत्तम है, उतना ही ग्रहण करो।

* * * *

तुम्हारी अपनी इच्छाशक्ति ही तुम्हारी प्रार्थना का उत्तर दे देती है — किन्तु विभिन्न व्यक्तियों के मन की धर्म सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं के अनुसार वह विभिन्न आकार में अभिव्यक्त होती है हम उसे बुद्ध ईसा, कृष्ण, जिहोवा, अल्ला अथवा अग्नि, चाहे किसी नाम से पुकार सकते हैं, किन्तु वास्तव में वह है हमारी ही आत्मा।

* * * *

हमारी धारणा क्रमशः उन्नत होती है, किन्तु जिन सब रूपकों के आकार में वह हमारे सम्मुख प्रकट होती है, उनका कोई ऐतिहासिक मूल्य नहीं है। हमारे अलौकिक दर्शन-समूह की अपेक्षा मूसा के अलौकिक दर्शन में भूल की संभावना अधिक है, क्योंकि हम अधिक ज्ञानसम्पन्न हैं एवं मिथ्या भ्रम द्वारा हमारे प्रतारित होने की संभावना बहुत कम है।

जब तक हमारा हृदयरूपी शास्त्र नहीं खुला है, तब तक शास्त्रपाठ वृथा है। फिर इन सब शास्त्रों का हमारे हृदयशास्त्र के साथ जहाँ तक सामञ्जस्य है, वहीं तक उनकी सार्थकता है। बल क्या है, यह बलवान् व्यक्ति ही समझ सकता है, हाथी ही सिंह को समझ सकता है, चूहा नहीं। हम जब तक ईसा के समान नहीं हुए हैं, तब तक उन्हें किस प्रकार समझ सकेंगे? दो डबल रोटियों में ५००० लोग खाएँ, अथवा पाँच डबल रोटियों में दो व्यक्ति खाएँ, ये दोनों बातें माया के राज्यान्तर्गत हैं। इनमें कोई भी सत्य नहीं है, अतएव दोनों में कोई भी एक दूसरे के द्वारा बाधित नहीं होती। महत्ता ही केवल महत्ता का आदर कर सकती है, ईश्वर ही ईश्वर की उपलब्धि कर सकते हैं। स्वप्न स्वप्नद्रष्टा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, उसकी अन्य कोई भित्ति नहीं है। स्वप्न और स्वप्नद्रष्टा दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। समग्र संगीत के भीतर 'सोऽहं' 'सोऽहं' यह एक ही स्वर बजता है, अन्य सब स्वर उसीके विभिन्न रूप मात्र हैं, अतएव उनसे मूल स्वर में—मूल तत्व में कुछ भेद नहीं पड़ता। जीवन्त शास्त्र हमीं लोग हैं, हम जो बातें करते हैं, वे ही सब 'शास्त्र' शब्द से परिचित हैं। सभी जीवन्त ईश्वर, जीवन्त ईसा हैं—इस भाव से सब को देखो। मनुष्य का अध्ययन करो, मनुष्य ही जीवन्त काव्य है। जगत् में जितने बाइबिल, ईसा या बुद्ध हुए हैं, सभी हमारी ज्योति से ज्योतिष्मान हैं। इस ज्योति को छोड़ देने पर ये सब हमारे लिये और अधिक जीवित नहीं रह सकेंगे, मर जायँगे।

तुम अपनी आत्मा के ऊपर स्थिर रहो।

मृत शरीर के साथ चाहे जैसा व्यवहार क्यों न करो, उसमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। हमें अपने शरीर को इसी प्रकार मृतवत

करके रखना होगा। और उसके साथ हमारा जो अभिन्न भाव रहता है, उसे दूर कर देना होगा।

३ अगस्त, शनिवार

जो मनुष्य इसी जन्म में मुक्ति प्राप्त करना चाहता है, उसे एक ही जन्म में हजारों वर्ष का काम कर लेना पड़ेगा। वह जिस युग में जन्मा है, उस युग के भावों की अपेक्षा उसे बहुत आगे जाना पड़ेगा; किन्तु साधारण लोग केवल किसी तरह रेंगते रेंगते आगे बढ़ सकते हैं। और बुद्धगण की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है।

* * * *

एक हिन्दू रानी थीं — उनकी बड़ी तीव्र इच्छा थी कि उनके पुत्र इसी जन्म में मुक्ति लाभ कर लें। इसी उद्देश से उन्होंने उन पुत्रों का लालन-पालन का सम्पूर्ण भार अपने ही ऊपर ले लिया। वे अति शैशवावस्था से उनको झुलाते झुलाते सुलाने के समय उनके समीप यह गाना गाती थीं — 'तत्त्वमसि, तत्त्वमसि।' उनके तीन पुत्र संन्यासी हो गये, किन्तु चतुर्थ पुत्र का, उसे राजा बनाने के उद्देश से, अन्यत्र पालन-पोषण हुआ। माता के पास से विदा लेते समय माँ ने उसे कागज़ का एक टुकड़ा देकर कहा, 'बड़े होने पर इसमें क्या लिखा है, पढ़ना।' उस कागज़ के टुकड़े में लिखा था — "ब्रह्म सत्य, और सब मिथ्या। आत्मा न कभी मरती है, न मारती है। निःसङ्ग बनो, अथवा सत्संग करो।" बड़े होने पर जब राजपुत्र ने इसे पढ़ा तो वह भी उसी समय संसार त्याग कर संन्यासी हो गया।

संसार का त्याग करो। अब हम लोग मानो कुत्तों के समान हैं — रसोईघर में घुस गए हैं, मांस का एक टुकड़ा खा रहे हैं, और

भय के मारे इधर उधर देख भी रहे हैं कि कोई पीछे से आकर मारना न शुरू कर दे। वैसा न होकर राजा के समान बनो — समझ रखो, समग्र जगत् तुम्हारा है। जब तक तुम संसार का त्याग नहीं करते, जब तक संसार ने तुम्हें बाँध रखा है, तब तक यह भाव तुम्हारे हृदय में कभी भी जागृत नहीं हो सकता। यदि बाहर से त्याग नहीं कर पाते हो तो मन ही मन सब त्याग दो। आन्तरिक भाव से सब त्याग दो। वैराग्यसम्पन्न हो जाओ। यह है यथार्थ आत्मत्याग — यदि यह नहीं हुआ तो धर्मलाभ असम्भव है। किसी प्रकार की वासना मत करो; क्योंकि जो वासना करोगे, वही पाओगे। और वही तुम्हारे भयानक बन्धन का कारण होगी। जैसा कि उस कहानी* में है। एक व्यक्ति ने तीन वर

---

* कहानी यह है:— एक गरीब मनुष्य ने एक देवता से वर प्राप्त किया था। देवता संतुष्ट होकर बोले — 'तुम यह पासा लो। इस पासे को जिन किन्हीं तीन कामनाओं से तीन बार फेंकोगे वे तीनों पूरी हो जाएँगी।' वह आनन्दोल्लसित हो घर जाकर अपनी स्त्री के साथ परामर्श करने लगा — क्या वर माँगना चाहिये। स्त्री ने कहा — 'धन-दौलत माँगो।' किन्तु पति ने कहा — 'देखो, हम दोनों की नाक चपटी है, उसे देखकर लोग हमारी बड़ी हँसी करते हैं, अतएव प्रथम बार पासा फेंककर सुन्दर नाक की प्रार्थना करनी चाहिये।' किन्तु स्त्री का मत वैसा नहीं था। अन्त में दोनों में खूब तर्क प्रारम्भ हुआ। आखिर पति ने क्रोध में आकर यह कहकर पासा फेंक दिया — 'हम लोगों को केवल सुन्दर नाक मिले, और कुछ नहीं चाहिये।' आश्चर्य, जैसे ही उसने पासा फेंका, वैसे ही उसके शरीर में ढेर के ढेर नाक उत्पन्न हो गईं। तब उसने देखा — यह क्या विपत्ति हुई; फिर उसने दूसरी बार पासा फेंककर कहा — नाक चली जायँ। इस बार सभी नाक चली गईं — साथ ही उनकी अपनी अपनी नाक भी चली गई। अब शेष रहा एक वर। तब उन्होंने सोचा — यदि इस बार पासा फेंककर चपटी नाक के बदले में अच्छी नाक प्राप्त करें, तो लोग अवश्य ही चपटी नाक के स्थान में अच्छी नाक देखकर उसके बारे में पूछताछ करेंगे। फिर तो हमें सभी बातें

प्राप्त किये थे, एवं उनके फलस्वरूप उसके सम्पूर्ण शरीर में नाक ही नाक हो गई। वासना रहने पर ठीक इसी प्रकार होता है। जब तक हम आत्मरति और आत्मतृप्त नहीं हुए हैं, तब तक मुक्ति लाभ नहीं कर सकते। आत्मा ही आत्मा का मुक्तिदाता है, अन्य कोई नहीं।

यह अनुभव करना सीखो कि तुम अन्य सभी लोगों के शरीर में वर्तमान हो; — यह समझने की चेष्टा करो कि हम सभी एक हैं। और सभी व्यर्थ की चीजों का त्याग कर दो। तुमने अच्छा बुरा जो कुछ भी किया है, उसके सम्बन्ध में सोचना बिलकुल बन्द कर दो — उन सभों को थू थू करके उड़ा दो। जो कर चुके, सो कर चुके। कुसंस्कारों को दूर कर दो। मृत्यु सम्मुख उपस्थित होने पर भी दुर्बलता मत दिखलाओ। अनुताप मत करो — पहले जो कुछ काम तुमने किया है, उन सभों को लेकर माथापच्ची मत करो, इतना ही नहीं, तुमने जो कुछ अच्छे काम भी किये हैं, उन्हें भी स्मृतिपथ से दूर हटा दो। 'आज़ाद' (मुक्त) बनो। दुर्बल, कापुरुष और अज्ञ व्यक्ति कभी भी आत्मलाभ नहीं कर सकते। तुम किसी भी कर्म के फल को नष्ट नहीं कर सकते — फल अवश्यमेव प्राप्त होगा; अतएव साहसी होकर उसके सम्मुख डटे रहो, किन्तु सावधान, दुबारा फिर वैसा कार्य मत करना। सभी कर्मों का भार उस भगवान् के ऊपर डाल दो, अच्छा या बुरा — सभी डाल दो। स्वयं अच्छा रखकर केवल खराब

बतानी पड़ेंगी। तब वे हमें मूर्ख समझकर और भी हमारी हँसी उड़ायेंगे; कहेंगे कि ये लोग ऐसे तीन वरों को प्राप्त करके भी अपनी अवस्था की उन्नति नहीं कर सके। यह सोचकर उन्होंने पासा फेंककर अपनी पुरानी चपटी नाक ही माँग ली!

उसके सिर पर मत डालना। जो स्वयं अपनी सहायता नहीं करता, भगवान् उसीकी सहायता करते हैं।

* * * *

"वासना-मदिरा पान कर समस्त जगत् मत्त हुआ है।" "जैसे दिन और रात्रि कभी भी एक साथ नहीं रह सकते, वैसे ही वासना और भगवान् दोनों एक साथ कभी नहीं रह सकते।" इसलिये वासना का त्याग करो।

'जहाँ राम तहाँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम
तुलसी कबहू मिलहिं दुइ, रवि रजनी इक ठाम?'

* * * *

केवल "खाना खाना" चिल्लाना और वास्तव में अन्न खाना, अथवा केवल "जल जल" चिल्लाना और वास्तव में जल पीना—इन दोनों के बीच आकाश-पाताल का अन्तर है; अतएव केवल "ईश्वर ईश्वर" कहकर चिल्लाने से ईश्वर की प्रत्यक्ष उपलब्धि की आशा कभी भी नहीं की जा सकती। हमें ईश्वर-लाभ करने की चेष्टा तथा साधना करनी होगी।

तरङ्ग समुद्र के साथ मिलकर एक हो जाने पर ही असीमत्व प्राप्त करती है, किन्तु वह तरङ्गावस्था में असीमत्व कभी भी नहीं प्राप्त कर सकती। समुद्र-स्वरूप धारण करने के बाद वह फिर तरङ्ग का आकार धारण कर सकती है और बड़ी से बड़ी तरङ्ग हो सकती है। अपने को तरङ्ग मत समझो; तुम यह सर्वदा ध्यान में रखो कि तुम मुक्त हो।

प्रकृत दर्शनशास्त्र का अर्थ है—कुछ प्रत्यक्षानुभूतियों को प्रणालीबद्ध करना। जहाँ पर बुद्धि-विचार का अन्त होता है, वहीं से

धर्म का आरम्भ होता है। समाधि या ईश्वर भावावेश (Inspiration) युक्ति-विचार की अपेक्षा अत्यधिक श्रेष्ठ है, किन्तु इस अवस्था में उपलब्ध सत्यसमूह कभी भी युक्ति-विचार के विरोधी नहीं होंगे। युक्ति-विचार एक भारी हथियार के समान है, उसके द्वारा श्रमसाध्य कार्य किये जा सकते हैं, और समाधि या ईश्वरभावावेश उज्ज्वल प्रदीप के समान सब सत्यों को दिखला देता है। किन्तु हमारे भीतर कुछ भी मनमाना करने की इच्छा या प्रेरणा का जो उदय होता है, उसे ईश्वरभावावेश नहीं कहा जा सकता।

माया के भीतर उन्नति करना या अग्रसर होना, इसे एक वृत्त कहा जा सकता है—इससे यही होता है कि जहाँ से तुम यात्रा प्रारम्भ करते हो, ठीक वहीं पर आ पहुँचते हो। तब अन्तर केवल इतना ही है कि यात्रा करते समय तुम अज्ञानी थे और उस स्थान पर जब लौटकर आते हो, तब तुम पूर्ण ज्ञान उपलब्ध किये हुए होते हो। ईश्वरोपासना, साधु महापुरुषों की पूजा, एकाग्रता, ध्यान और निष्काम कर्म—ये सब मायाजाल को काटकर निकलने के उपाय हैं; किन्तु हमारे भीतर पहले से ही तीव्र मुमुक्षुत्व रहना चाहिये। जो ज्योति प्रकाशित होकर हमारे हृदयान्धकार को दूर कर देगी, वह तो हमारे भीतर ही है—यह है वह ज्ञान, जो हमारा स्वभाव या स्वरूप है। (यह ज्ञान हमारा 'जन्मगत स्वत्व' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वास्तव में हमारा जन्म तो है ही नहीं।) केवल जो मेघ इस ज्ञानसूर्य को आवृत्त किए हुए हैं, हमें उन्हीं को दूर कर देना होगा।

ऐहिक अथवा स्वर्गीय सभी प्रकार की भोगवासनाओं को त्याग दो (इहामूत्र-फलभोगविराग)। इन्द्रिय और मन का संयम करो (दम

और शम)। सभी प्रकार के दुःखों को इस प्रकार सहन करो, जिसे तुम्हारा मन जान ही न पावे कि तुम्हें कोई दुःख हुआ है (तितिक्षा)। मुक्ति के अतिरिक्त अन्य सभी भावनाओं को दूर कर दो, गुरु में और उनके उपदेशों में विश्वास रखो, और यह भी विश्वास रखो कि तुम निश्चय ही मुक्त हो सकोगे (श्रद्धा)। कुछ भी क्यों न हो, सर्वदा यही कहो — सोऽहं सोऽहं। खाते, चलते, कष्टों से घिरे रहते, सर्वदा सोऽहं सोऽहं कहो, सर्वदा मन से बोलो कि यह जो जगत्प्रपञ्च दृश्यमान है, इसका किसी भी काल में अस्तित्व नहीं है, हूँ केवल मैं ही (समाधान)। तुम देखोगे कि एक दिन ज्ञानप्रकाश होगा ही और तुम्हें अनुभव होगा कि जगत् शून्यमात्र है, केवल ब्रह्म ही सर्वत्र व्याप्त है। मुक्त होने के लिये प्रबल इच्छासम्पन्न होओ (मुमुक्षुत्व)।

आत्मीय और बन्धु-बान्धवगण पुराने अन्धकूप के समान हैं, हम इस अन्धकूप में पड़कर कर्तव्य, बन्धन प्रभृति नाना स्वप्न देखा करते हैं — इस स्वप्न का कभी भी अन्त नहीं है। किसी की सहायता करने के लिये जाकर और अधिक भ्रम की सृष्टि मत करो। यह मानो एक वटवृक्ष के समान है जो बढ़ता ही जाता है। यदि तुम द्वैतवादी हो, तो ईश्वर की सहायता करने के लिये जाना ही तुम्हारी मूर्खता है। यदि तुम अद्वैतवादी हो, तो तुम स्वयमेव ब्रह्मस्वरूप हो — फिर तुम्हारा कर्तव्य क्या रहा? पति, स्वामी, लड़के-बच्चे, बन्धु-बान्धव — किसी के प्रति तुम्हारा कुछ भी कर्तव्य नहीं है। जो हो रहा है होने दो, चुपचाप पड़े रहो। प्रवाह के साथ अपने शरीर को बहने दो — डूबने-उतराने दो। यदि शरीर मरे तो मरने दो — हमारा शरीर है,

यह तो एक पुरानी कल्पित कथा मात्र है। चुपचाप होकर रहो, और 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अनुभव करो।

केवल वर्तमान काल ही विद्यमान है। हम चिन्तन द्वारा भी भूत और भविष्यत् की धारणा नहीं कर सकते; क्योंकि चिन्तन करने के लिये उद्यत होते ही भूत और भविष्यत् को वर्तमान में खड़ा करना पड़ता है। सब कुछ छोड़ दो, उसे जहाँ जाना है, जाने दो। यह समग्र जगत् एक भ्रममात्र है, यह तुम्हें और फिर प्रतारित न कर पावे। तुम जगत् को जो वह नहीं है वही समझते हो, अवस्तु में वस्तु-ज्ञान करते हो, अब वह वास्तव में जो है केवल उसे ही जानो। यदि शरीर कहीं चला जाता है, तो जाने दो; शरीर कहीं भी क्यों न जाय, कुछ भी परवाह मत करो। कर्तव्य नामक कोई एक वस्तु है, और उसका पालन करना ही होगा—इस प्रकार की धारणा भयंकर कालकूट-स्वरूप है, इसने जगत् को नष्ट कर डाला है।

स्वर्ग में जाकर एक वीणा पाऊँगा और उसे बजाकर यथासमय विश्राम-सुख का अनुभव करूँगा—इस बात की अपेक्षा मत करो। इसी जगह एक वीणा लेकर क्यों न बजाना आरम्भ कर दो? स्वर्ग के लिये राह देखने की क्या आवश्यकता है? इस लोक को ही स्वर्ग बना लो। तुम लोगों की पुस्तक में है, स्वर्ग में विवाह नहीं होता—यदि ऐसा है, तो यहीं पर अभी से विवाह क्यों न बन्द कर दो? संन्यासियों का गैरिक वस्त्र मुक्त पुरुषों का चिह्न है। संसारित्वरूपी भिक्षुकों का वेष छोड दो, मुक्ति की पताका—गैरिक वस्त्र धारण करो।

४ अगस्त, रविवार

"अज्ञ लोग बिना समझे जिनकी उपासना करते हैं, मैं तुम्हारे निकट उन्हींका प्रचार करता हूँ।"

यह एक अद्वितीय ब्रह्म ही सभी ज्ञात वस्तुओं की अपेक्षा हमारे लिये अधिक ज्ञात है। वही एक ऐसी वस्तु है, जिसे हम सर्वत्र देखते हैं। सभी अपनी आत्मा को जानते हैं, इतना ही नहीं, पशु भी जानता है कि मैं हूँ। हम जो कुछ जानते हैं, सब आत्मा का ही बहिःप्रसारण है, विस्तारस्वरूप है। छोटे छोटे बच्चों को यह तत्व सिखाओ, वे भी इस तत्व की धारणा कर सकते हैं। प्रत्येक धर्म (किसी किसी स्थल में अज्ञात रूप से भी) इसी आत्मा की उपासना करता आ रहा है, क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

हम लोग इस जीवन को यहाँ पर जिस भाव से जानते हैं, उसके प्रति ऐसे घृणित रूप से आसक्त होकर रहना ही समस्त अनिष्ट का मूल है। उसी से प्रतारणा, चोरी आदि सब कुछ होता है। उसीसे लोग रुपये को देवता का स्थान देते हैं, और उसी से ही समस्त पाप तथा भय की उत्पत्ति होती है। किसी जड़ वस्तु को मूल्यवान मत समझो और उसमें आसक्त मत होओ। तुम किसी भी वस्तु में, इतना ही नहीं, जीवन में भी आसक्त मत होओ, फिर कोई भी भय न रहेगा। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।'—जो इस जगत् में अनेकता देखता है, वह मृत्यु के बाद मृत्यु को प्राप्त होता है। हम जब सर्वत्र एकत्व का दर्शन करते हैं, तब हमारे शरीर की भी मृत्यु नहीं होती, और न मन की ही। जगत् के सभी शरीर हमारा शरीर हैं, अतएव हमारा शरीर भी नित्य है; क्योंकि पेड़-पत्ते, जीव-जन्तु,

चन्द्र-सूर्य, इतना ही नहीं, यह सम्पूर्ण जगत्-ब्रह्माण्ड ही हमारा शरीर है——तो फिर इस शरीर का नाश होगा ही कैसे? प्रत्येक मन, प्रत्येक चिन्ता ही हमारी है——फिर मृत्यु आएगी ही कैसे? आत्मा न कभी जन्म लेती है, न उसकी कभी मृत्यु होती है——जब हम यह प्रत्यक्ष उपलब्धि कर लेते हैं, तब हमारा सभी सन्देह नष्ट हो जाता है। 'मैं हूँ', 'मैं अनुभव करता हूँ', 'मैं सुखी होता हूँ'——'अस्ति, भाति, प्रिय'——इन सब बातों पर कभी भी संदेह नहीं किया जा सकता। 'मेरी क्षुधा' नाम की कोई वस्तु हो ही नहीं सकती, क्योंकि जगत में जो कोई जो कुछ खाता है, वह मैं ही खाता हूँ। यदि हमारे एक मुट्ठी बाल उखड़ जाते हैं, तो हम ऐसा नहीं सोचते कि हम मर गये। इसी प्रकार एक देह की यदि मृत्यु होती है, तो वह एक मुट्ठी बाल उखड़ जाने के ही सदृश है।

* * * *

वह ज्ञानातीत वस्तु ही ईश्वर है——वह वाक्यातीत, चिन्तातीत एवं ज्ञानातीत है।........तीन अवस्थायें हैं,——पशुत्व (तम), मनुष्यत्व (रज) और देवत्व (सत्व)। जो सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करते हैं, वे अस्तिमात्र या सत्स्वरूपमात्र हो जाते हैं। उनका कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता, वे मनुष्यों के प्रति केवल प्रेमान्वित रहते हैं और चुम्बक के समान दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। इसी का नाम मुक्ति है। उस समय चेष्टापूर्वक कोई सत्कार्य नहीं करना होता, उस समय जो कुछ कार्य होते हैं वे सब सत्कार्य ही होते हैं। जो ब्रह्मविद् हैं, वे सभी देवताओं से बड़े हैं। ईसा मसीह ने जिस समय मोह को जीतकर यह कहा, 'शैतान, मेरे सामने से दूर हो' उसी समय देवता

उनकी पूजा करने के लिये आये। कोई भी व्यक्ति ब्रह्मविद् की कुछ भी सहायता करने में समर्थ नहीं हो सकता, समग्र जगत्प्रपञ्च ही उनके सामने प्रणत रहता है, उनकी सभी इच्छाएँ पूर्ण हो चुकती हैं, उनकी आत्मा दूसरों को पवित्र करती है। अतएव यदि ईश्वरलाभ की कामना करो, तो ब्रह्मविद् की पूजा करो। जब हम देवानुग्रहस्वरूप मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुष-संश्रय लाभ करते हैं, तभी समझना चाहिये कि मुक्ति हमारे करतलगत है।

* * * *

चिरकाल के लिये देह की मृत्यु का नाम ही निर्वाण है। यह निर्वाणतत्व की निषेधात्मक अर्थात् 'नेति नेति' दिशा है। इसमें केवल यही कहा जाता है — 'मैं यह नहीं, मैं वह नहीं।' वेदान्त कुछ और आगे बढ़कर उसकी स्वीकारात्मक अर्थात् 'इति इति' दिशा बतलाता है — उसीका नाम है मुक्ति।' मैं अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द हूँ, मैं वही हूँ'— यह है वेदान्त — वह मानो पूर्ण रूप से निर्दोष मेहराव का बीचवाला पत्थर है।

बौद्ध धर्म के उत्तर विभागवाले बहुसंख्यक अनुयायी मुक्ति में विश्वास रखते हैं — वे यथार्थतः वैदान्तिक ही हैं। केवल सिंहलवासी लोग निर्वाण को विनाश के समानार्थक रूप में ग्रहण करते हैं।

किसी प्रकार का विश्वास या अविश्वास 'मैं' का नाश नहीं कर सकता। जिसका अस्तित्व विश्वास के ऊपर निर्भर रहता है और जो अविश्वास से उड़ जाता है, वह भ्रममात्र है। आत्मा को कोई भी स्पर्श नहीं कर सकता। मैं अपनी आत्मा को नमस्कार करता हूँ। 'स्वयंज्योति मैं अपने को ही नमस्कार करता हूँ, मैं ब्रह्म हूँ।' यह शरीर मानो एक

अंधेरा घर है; हम जब इस घर में प्रवेश करते हैं, तभी वह आलोकित हो उठता है, तभी वह जीवन्त होता है। आत्मा की इस स्वयंप्रकाश ज्योति को कोई भी स्पर्श नहीं कर सकता। इसे किसी भी प्रकार से नष्ट नहीं किया जा सकता। इसे आवृत किया जा सकता है, किन्तु नष्ट कभी भी नहीं किया जा सकता।

वर्तमान युग में भगवान् की अनन्त शक्तिस्वरूपिणी जननी के रूप में उपासना करना कर्तव्य है। इसमें पवित्रता का उदय होगा और इस मातृपूजा से अमेरिका में महाशक्ति का विकास होगा। यहाँ पर (अमेरिका में) कोई मन्दिर (पौरोहित्य शक्ति) हमारा गला नहीं दबाता और अपेक्षाकृत गरीब देशों के समान यहाँ कोई कष्ट भी नहीं भोगता। स्त्रियों ने सैकड़ों युगों तक दुःख-कष्ट सहन किये हैं, इसीसे उनके भीतर असीम धैर्य और अध्यवसाय का विकास हुआ है। वे किसी भी भाव को सहज ही छोड़ना नहीं चाहतीं। इसी हेतु वे कुसंस्कारपूर्ण धर्मसमूहों एवं सभी देशों के पुरोहितों का मानो आधार-स्वरूप हो जाती हैं; यही बाद में उनकी स्वाधीनता का कारण होगा। हमें वैदान्तिक होकर वेदान्त के इस महान् भाव को जीवन में परिणत करना होगा। निम्न श्रेणी के मनुष्यों में भी यह भाव वितरित करना होगा—यह केवल स्वाधीन अमेरिका में ही कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है। भारत में बुद्ध, शंकर तथा अन्यान्य महामनीषी व्यक्तियों ने इन सभी भावों का लोगों में प्रचार किया था, किन्तु निम्न श्रेणी के लोग उन भावों को धारण नहीं कर सके। इस नूतन युग में निम्न जाति

के लोग वेदान्त के आदर्शानुसार जीवन यापन करेंगे, और यह स्त्रियों के द्वारा ही कार्यरूप में परिणत होगा।

"हृदय में सहेज रखो आदरणीया श्यामा माँ को,
हृदय! उसे केवल तुम देखो, और मैं।
कामादिकों को दूर कर, आओ माँ को एकान्त में देखें,
रसना अपने साथ रहे, जिससे वह माँ कहकर पुकार सके।
कुबुद्धि कुमन्त्री जितने हैं, उन्हें अपने पास न आने दो।
ज्ञाननयन को पहरेदार रखो, पर वह भी सावधान रहे।"

"जितने प्राणी जीवनधारण करते हैं, तुम उन सब से परे हो। तुम मेरे जीवन के सुधाकरस्वरूप हो, मेरी आत्मा की भी आत्मा हो।"

रविवार, अपराह्न

देह मानो मन के हाथ का एक यन्त्रविशेष है, मन भी उसी प्रकार आत्मा के हाथ का एक यन्त्रस्वरूप है। जड़ है बाहर की गति, मन है भीतर की गति। समस्त परिणाम का आरम्भ और समाप्ति 'काल' में ही होती है। आत्मा यदि अपरिणामी है, तो वह निश्चित पूर्णस्वरूप है; और यदि पूर्णस्वरूप है, तो अनन्तस्वरूप है; और अनन्तस्वरूप होने से वह अवश्य ही द्वितीयरहित है;—क्योंकि दो अनन्त तो हो नहीं सकते, अतएव आत्मा एकमात्र ही है। यद्यपि आत्मा अनेक प्रतीत होती है, तथापि वास्तव में वह एक है। यदि कोई व्यक्ति सूर्य की ओर चलता है, तो प्रति पदक्षेप में वह एक एक विभिन्न सूर्य को देखेगा, किन्तु वास्तव में सभी तो केवल वह एक ही सूर्य हैं।

'अस्ति' ही सभी प्रकार के एकत्व की भित्तिस्वरूप है, और इसमें पहुँचने पर ही पूर्णता प्राप्त होती है। यदि सभी रङ्गों को एक रङ्ग में

परिणत करना सम्भव होता, तो चित्रविद्या ही लुप्त हो जाती। सम्पूर्ण एकत्व है विश्राम या लयस्वरूप; सभी अभिव्यक्तियों को हम एक ईश्वर से ही निकली हुई कहते हैं। 'ताओ' वादी, * कन्फ्यूछ (Confucius) मतवादी, बौद्ध, हिन्दू, यहूदी, मुसलमान, ईसाई और जरथुस्त्र के शिष्यगण (Zoroastrians) इन सभों ने प्रायः समान रूप से, "तुम दूसरों से जिस प्रकार का व्यवहार चाहते हो, ठीक उसी तरह का व्यवहार दूसरों के प्रति भी करो", इस अपूर्व नीति का प्रचार किया है। किन्तु केवल हिन्दुओं ने ही इस नीति की व्याख्या दी है, क्योंकि वे इसका कारण देख पाये थे। मनुष्य को अन्य सभों के प्रति प्रेम करना होगा; क्योंकि उसमें और उनमें कोई भेद नहीं है। एक ही अनेक हुए हैं।

जगत् में जितने बड़े बड़े धर्माचार्य हुए हैं, उनमें केवल लाओत्ज़े (Laotze), बुद्ध और ईसा ही उपरोक्त नीति के भी परे जाकर शिक्षा दे गये हैं, —'तुम लोग अपने शत्रुओं से भी प्रेम करो', 'जो तुमसे घृणा करते हैं, उनसे भी प्रेम करो।'

तत्वसमूह पहले से ही विद्यमान है; हम उसकी सृष्टि नहीं करते, केवल उसका आविष्कार करते हैं।.... धर्म केवल प्रत्यक्षानुभूति मात्र है। विभिन्न मतवाद विभिन्न पथस्वरूप—प्रणालीस्वरूप मात्र हैं, वे धर्म नहीं हैं। जगत् के जितने धर्म हैं, सभी विभिन्न जाति के विभिन्न प्रयोजनों के अनुसार एक ही धर्म के विभिन्न प्रकाश मात्र हैं। मतवाद

* ईसा के पूर्व छटी शताब्दि में लाओत्से द्वारा चीन देश में स्थापित धर्म-सम्प्रदाय। इस सम्प्रदाय का मत प्रायः वेदान्तसदृश है। 'ताओ' की धारणा अधिकांश वेदान्त के निर्गुण ब्रह्मसदृश है।

केवल विरोध का निर्माण करता है। देखो न, वास्तव में ईश्वर के नाम से लोगों को शान्ति मिलनी चाहिये, परन्तु ऐसा न होकर जगत् में जितना रक्तपात हुआ है, उसमें से आधा से अधिक ईश्वर के नाम पर ही हुआ है। बिलकुल मूल तक पहुँचो; स्वयं ईश्वर से ही पूछो कि उनका स्वरूप कैसा है। यदि वे उत्तर नहीं देते हैं, तो समझना होगा कि वे नहीं हैं। किन्तु जगत् के सभी धर्म कहते हैं कि उन्होंने उत्तर दिया है।

तुम्हारे स्वयं के कुछ विचार चाहिये; यदि ऐसा नहीं होगा तो दूसरों ने क्या कहा है, उसकी किसी भी प्रकार की धारणा तुम कैसे कर सकोगे? पुरातन कुसंस्कारों को लेकर मत पड़े रहो, सर्वदा नूतन सत्यसमूह के लिये प्रस्तुत रहो। "मूर्ख वे हैं, जो अपने पूर्वपुरुषों के खुदे हुए कुएँ का पानी खारा होने पर भी पीते रहेंगे, किन्तु दूसरों के कुएँ का विशुद्ध जल भी पीने से इनकार करेंगे।" जब तक हम ईश्वर को प्रत्यक्ष नहीं करते, तब तक उनके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जान सकते। प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः पूर्णस्वरूप है। अवतारों ने अपने इस पूर्णस्वरूप को प्रकाशित किया है, और हमारे भीतर अभी भी वह अव्यक्त रूप में विद्यमान है। यदि हम भी ईश्वर को नहीं देख सकते तो कैसे जान सकेंगे कि मूसा ने ईश्वर का दर्शन किया था? यदि ईश्वर कभी किसी के समीप आये हैं, तो हमारे समीप भी आयेंगे। मैं एकदम उनके पास जाऊँगा, वे मुझसे बातचीत करेंगे। विश्वास को भित्तिरूप में मै ग्रहण नहीं कर सकता — यह नास्तिकता और घोर ईश्वरनिन्दा मात्र है। यदि ईश्वर ने दो हजार वर्ष पहले अरब की मरुभूमि में किसी व्यक्ति के साथ वार्तालाप किया है, तो वे आज मेरे साथ भी वार्तालाप

कर सकते है। यदि वे न कर सकते हैं तो हम क्यों न कहें कि वे मर गये हैं? जैसे भी हो ईश्वर के निकट आओ — आना ही चाहिये। किन्तु आते समय किसी को ढकेलना मत।

ज्ञानी व्यक्ति अज्ञानियों के प्रति करुणा रखेंगे। जो ज्ञानी हैं, वे एक चींटी के लिये भी अपना शरीर त्याग करने को प्रस्तुत रहते हैं, क्योंकि वे जानते हैं, देह कुछ नहीं है।

५ अगस्त, सोमवार

प्रश्न यह है कि सर्वोच्च अवस्था लाभ करने के लिये क्या सभी निम्नतर सोपानों से होकर जाना होगा, या एकदम छलांग मारकर उस अवस्था में पहुँचा जा सकता है? आधुनिक अमेरिका का बालक आज जिस विषय को पचीस वर्ष के भीतर सीख लेता है, उसके पूर्वपुरुषों को उस विषय के सीखने में सौ वर्ष लग जाते। एक आधुनिक हिन्दू अभी बीस वर्ष में उस अवस्था में पहुँच जाता है, जिसे पाने में उसके पूर्वपुरुषों को आठ हजार वर्ष लगे थे। जड़ दृष्टि द्वारा देखने पर पता चलता है कि गर्भ में भ्रूण (Embryo) उस प्राथमिक जीवाणु-कोष (Amœba) की अवस्था से आरम्भ होकर अनेक अवस्थाओं में से गुजरकर अन्त में मनुष्य-स्वरूप धारण करता है। यह हुई आधुनिक विज्ञान की शिक्षा। वेदान्त और भी आगे बढ़कर कहता है — हमारे लिये समग्र मानव-जाति का केवल अतीत-जीवन यापन करना ही पर्याप्त नहीं होगा, बल्कि समग्र मानव-जाति का भविष्यत्-जीवन भी यापन करना होगा। जो प्रथमोक्त बात कर पाते हैं, वे शिक्षित व्यक्ति हैं; जो दूसरी बात कर पाते हैं, वे जीवन्मुक्त हैं।

काल केवल हम लोगों की चिन्ता का परिमापक (Measure)

मात्र है, और चिन्ता की गति अभावनीय रूप से द्रुत होने के कारण हम कितने शीघ्र भावी जीवन यापन कर सकते हैं, उसका कोई सीमानिर्देश नहीं किया जा सकता। अतएव मानव-जाति के समग्र भविष्यत्-जीवन को अपने जीवन में अनुभव करने में कितने दिन लगेंगे, यह निर्दिष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। किसी किसी को उस अवस्था का लाभ एक क्षण में भी हो सकता है, और किसी को पचास जन्म भी लग सकते हैं। यह इच्छा की तीव्रता के ऊपर निर्भर है। अतएव शिष्यों की आवश्यकतानुसार उपदेश भी विभिन्नरूप होना आवश्यक है। जलती हुई आग सभी के लिये है—वह केवल जल को ही नहीं, वरन् बरफ के टुकड़ों को भी नष्ट कर डालती है। बन्दूक में से सैकड़ों छर्रे छोड़ो, कम से कम एक छर्रा तो लगेगा ही। लोगों के लिये सत्य का भण्डार खोल दो, उनमें से जितना उनके लिये उपयोगी है, उतना वे ले लेंगे। अतीत अनेकानेक जन्म के फलस्वरूप जिसके हृदय में जैसा संस्कार गठित हुआ है, उसे तदनुसार उपदेश दो। ज्ञान, योग, भक्ति और कर्म—इनमें से चाहे जिस भाव को मूल भित्ति बनाओ, किन्तु अन्यान्य भावों की भी साथ ही साथ शिक्षा दो। ज्ञान के साथ भक्ति का सामञ्जस्य करना होगा, योगप्रवण प्रकृति का युक्ति-विचार के साथ सामञ्जस्य करना होगा, और कर्म मानो सभी पथों का अङ्गस्वरूप है। जो जहाँ पर है, उसे वहाँ से ठेलकर आगे बढ़ाओ। धर्मशिक्षा विनष्टकारी न होकर सर्वदा सृजनकारी ही होनी चाहिये।

मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति उसकी अतीत कर्मसमष्टि की परिचायक है। यह मानो वह रेखा या व्यासार्ध है, जिसका अनुसरण कर उसे चलना ही होगा। इस प्रकार के सब व्यासार्धों का अनुसरण करके ही

हम केन्द्र में पहुँच सकते हैं। दूसरों की प्रवृत्ति को पलट देने का नाम तक मत लो, उससे गुरु और शिष्य दोनों को क्षति पहुँचती है। जब तुम ज्ञान की शिक्षा देते हो, तो तुम्हें ज्ञानी होना होगा, और जो अवस्था शिष्य की होती है, तुम्हें मन ही मन ठीक उसी अवस्था में पहुँचना होगा। अन्यान्य योगों में भी तुम्हें ठीक ऐसा ही करना होगा। प्रत्येक वृत्ति का विकास-साधन इस रूप में करना होगा कि उस वृत्ति को छोड़ अन्य कोई वृत्ति मानो हमारे लिये है ही नहीं — यह है तथाकथित सामञ्जस्यपूर्ण उन्नतिसाधन का यथार्थ रहस्य — अर्थात् गम्भीरता के साथ उदारता का अर्जन करो, किन्तु उसे खो मत दो। हम अनन्त-स्वरूप हैं — हम सभी किसी भी प्रकार की सीमा के अतीत हैं। अतएव हम सर्वापेक्षा निष्ठावान् आदर्श मुसलमान के समान गम्भीर, और फिर भी सर्वापेक्षा घोर नास्तिक के समान उदारभावापन्न हो सकते हैं।

इसे कार्य में परिणत करने का उपाय है — मन का किसी विषयविशेष में प्रयोग न करके यथार्थ मन का ही विकास करना और उसका संयम करना। ऐसा करने पर तुम उसे चाहे जिस ओर घुमा सकोगे। इससे तुम्हें गम्भीरता और उदारता दोनों ही प्राप्त होंगी। ज्ञान की उपलब्धि इस भाव से करो कि ज्ञान छोड़कर मानो और कुछ है ही नहीं; उसके बाद भक्तियोग, राजयोग और कर्मयोग को भी लेकर इसी भाव से साधना करो। तरङ्ग को छोड़कर समुद्र की ओर जाओ, तभी तुम स्वेच्छानुसार विभिन्न प्रकार की तरङ्गों का उत्पादन कर सकोगे। तुम अपने मनरूपी ह्रद को संयत रखो, ऐसा किए बिना तुम दूसरों के मनरूपी ह्रद का तत्व कभी न जान सकोगे।

वे ही प्रकृत आचार्य हैं, जो अपने शिष्य की प्रवृत्ति या रुचि

के अनुसार अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। प्रकृत सहानुभूति के बिना हम कभी भी ठीक ठीक शिक्षा नहीं दे सकते। मनुष्य एक दायित्वपूर्ण प्राणी है, इस धारणा को छोड़ दो; केवल पूर्णताप्राप्त व्यक्ति को ही दायित्व-ज्ञान है। सब अज्ञानी व्यक्ति मोहमदिरा पीकर मत्त हुए हैं, उनकी स्वाभाविक अवस्था नहीं है। तुम लोगों ने ज्ञानलाभ किया है — तुम्हें उनके प्रति अनन्त-धैर्यसम्पन्न होना होगा। उनके प्रति प्रेमभाव छोड़कर अन्य किसी प्रकार का भाव मत रखो; वे जिस रोग से ग्रसित होकर जगत् को भ्रान्त दृष्टि से देखते हैं, पहले उसी रोग का निर्णय करो, उसके बाद उनकी उस रीति से सहायता करो जिससे उनका वह रोग मिट सके और वे ठीक ठीक देख सकें। सर्वदा स्मरण रखो कि मुक्त या स्वाधीन पुरुषों की ही केवल स्वाधीन इच्छा होती है — शेष सभी बन्धन के भीतर रहते हैं — अतएव वे जो कुछ करते हैं उसके लिए वे उत्तरदायी नहीं हैं। इच्छा जब इच्छारूप में रहती है, उस समय वह बद्ध है। जल जब हिमालय के शिखर पर पिघलता है, तब स्वाधीन या उन्मुक्त रहता है, किन्तु नदी-रूप धारण करते ही किनारे की भूमि द्वारा आबद्ध हो जाता है; तथापि उसका प्राथमिक वेग ही उसे अन्त में समुद्र में ले जाता है, और वहाँ यह जल फिर से उस पूर्वकालीन स्वाधीनता को प्राप्त करता है। प्रथम अवस्था अर्थात् नदी-रूप में आबद्ध होने को ही बाइबिल ने मानव का पतन (Fall of Man) और द्वितीय को पुनरुत्थान (Resurrection) कहा है। एक परमाणु भी जब तक उस मुक्तावस्था का लाभ नहीं करता है तब तक वह स्थिर होकर नहीं रह सकता।

बहुतसी कल्पनायें अन्य कल्पनाओं का बन्धन नष्ट करने में

सहायता करती है। समग्र जगत् ही कल्पना है, किन्तु एक प्रकार की कल्पनासमष्टि अन्य सभी कल्पनासमष्टियों को नष्ट कर देती है। जो सब कल्पनाएँ यह कहती हैं कि जगत् में पाप, दु:ख और मृत्यु विद्यमान हैं वे सभी कल्पनाएँ अत्यन्त भयानक हैं; किन्तु दूसरे प्रकार की कल्पनाएँ जिनमें कहा जाता है—'मैं पवित्रस्वरूप हूँ, ईश्वर हूँ, जगत् में दु:ख कुछ नहीं है'—वे ही सब शुभ कल्पनाएँ हैं, और उन्हीं के द्वारा अन्यान्य कल्पनाओं का बन्धन छिन्न हो जाता है। सगुण ईश्वर ही मानव की वह सर्वोच्च कल्पना है, जिससे हमारी बन्धन-श्रृङ्खला की कड़ियाँ छिन्न हो सकती हैं।

ॐ तत्सत्, अर्थात् एकमात्र वह निर्गुण ब्रह्म ही मायातीत है; किन्तु सगुण ईश्वर भी नित्य हैं। जब तक नयागरा जलप्रपात रहता है, तब तक उसमें प्रतीत होनेवाला इन्द्रधनुष भी रहता है; किन्तु इधर प्रपात की जलराशि सर्वदा प्रवाहित होती रहती है। यह जल-प्रपात जगत्प्रपञ्चस्वरूप है और इन्द्रधनुष सगुण ईश्वरस्वरूप है, और ये दोनों ही नित्य है। जब तक जगत् रहता है, तब तक जगदीश्वर अवश्यमेव हैं। ईश्वर जगत् की सृष्टि करते हैं, और जगत् ईश्वर की सृष्टि करता है—दोनों ही नित्य हैं। माया सत् नहीं है, असत् भी नहीं। नयागरा-प्रपात और इन्द्रधनुष दोनों ही अनन्त काल के लिये परिणामशील हैं—वे मायाच्छादित ब्रह्म हैं। पारसी और ईसाई लोग माया को दो भागों में विभक्त कर उत्तम अर्ध भाग को ईश्वर और बुरे अर्ध भाग को शैतान कहते हैं। वेदान्त माया को समष्टि या सम्पूर्ण रूप में ग्रहण करता है और उस माया के पीछे ब्रह्मरूपी एक अखण्ड वस्तु की सत्ता स्वीकार करता है।

* * * *

मुहम्मद ने देखा, ईसाई धर्म सेमिटिक भाव से दूर चला जा रहा है। इस सेमिटिक भाव के बीच रहते हुए ही ईसाई धर्म किस प्रकार का होना उचित है अर्थात् उसे एकमात्र ईश्वर में ही विश्वास करना चाहिए—यही उनके उपदेश का विषय है। 'मैं और मेरा पिता एक' इस आर्योचित उपदेश से वे अत्यन्त विरक्त थे, इस उपदेश से वे डरते थे। वास्तव में मानव से नित्य पृथक् जिहोवासम्बन्धी द्वैत धारणा की अपेक्षा त्रित्ववाद (Trinitarian) का मत अधिक उन्नत है। जो समस्त भाव-शृंखला क्रमशः ईश्वर तथा मानव का एकत्व-ज्ञान करा देती है, उसकी कड़ियों में अवतारवाद प्रथम कड़ी है। लोग पहले समझते है, ईश्वर एक मनुष्य के शरीर में आविर्भूत हुए थे, उसके बाद देखते है, विभिन्न कालों में वे विभिन्न मानवशरीर धारण करके आविर्भूत हुए हैं। अन्त में वे देखते हैं कि ईश्वर सब मनुष्यों के भीतर रहते हैं। अद्वैतवाद सर्वोच्च सोपान है—एकेश्वरवाद उसकी अपेक्षा नीचे का सोपान है। विचार-युक्ति की भी अपेक्षा कल्पना तुम्हें शीघ्र और सहज में उस सर्वोच्च अवस्था में पहुँचा देगी।

कम से कम कुछ लोग केवल ईश्वरलाभ के लिये चेष्टा करें, और समग्र जगत् के लिये धर्म की रक्षा करें। 'मैं राजा जनक के समान निर्लिप्त हूँ' इस प्रकार का ढोंग मत करो। तुम जनक अवश्य हो, किन्तु मोह या अज्ञान के जनक हो। निष्कपट होकर कहो—'मैं समझ रहा हूँ कि आदर्श क्या है, किन्तु अभी भी मै उसकी ओर नहीं बढ़ पाता हूँ।' किन्तु प्रकृत त्याग किये बिना त्याग करने का ढोंग मत करो। यदि सचमुच ही त्याग करो, तो फिर दृढभाव से इस त्याग को

पकड़े रहो। लड़ाई में सौ मनुष्यों का पतन हो जाय, तो भी तुम ध्वजा उठा लो और आगे बढ़ जाओ। कोई भी क्यों न गिर पड़े तथापि ईश्वर सत्य हैं। युद्ध में जिसका पतन हो जाय वह उस ध्वजा को अन्य व्यक्ति के हाथ में समर्पित कर दे—फिर वह व्यक्ति उस ध्वजा का वहन करे। ध्वजा को भूमि पर कभी मत गिरने दो।

*　　*　　*　　*

बाइबिल में कहा है, पहले भगवान् के राज्य का अन्वेषण करो, फिर जो कुछ तुम्हें चाहिये वह उनसे तुम्हें मिल जायगा। किन्तु मैं कहता हूँ, जब मैं नहा धोकर परिष्कृत हो गया, तो फिर इस प्रकार की पवित्रता-अपवित्रता का क्या प्रयोजन? बल्कि मैं कहता हूँ, सर्व-प्रथम स्वर्गराज्य का अन्वेषण करो और शेष जो कुछ है सब चला जाय। तुममें कुछ नूतन आवे, इस बात के लिये अन्वेषण मत करो, बल्कि यदि इन सब बातों का त्याग कर सको तो उसमें आनन्द मानो। त्याग करो और समझ लो कि तुम स्वयं न भी देख पाओ तो भी उसका फल कभी न कभी अवश्य ही फलेगा। ईसा के केवल बारह शिष्य थे जो मछुए थे, किन्तु इन थोड़े से व्यक्तियों ने ही प्रबल रोम साम्राज्य तक को उलट-पलट दिया था।

पृथिवी में पवित्रतम और सर्वोत्कृष्ट जो कुछ है, उसे ईश्वर की वेदी पर बलिस्वरूप में अर्पण कर दो। जो त्याग की चेष्टा कभी भी नहीं करते, उनकी अपेक्षा जो चेष्टा करते हैं, वे बहुत अच्छे हैं। एक त्यागी मनुष्य को देखने से भी हृदय पवित्र होता है। ईश्वर को प्राप्त करूँगा—केवल उन्हीं को चाहता हूँ—यह कहकर दृढ़ भाव से खड़े हो जाओ, संसार को उड़ जाने दो: ईश्वर और संसार इन दोनों

के बीच किसी प्रकार का समझौता मत करो। संसार का त्याग करो, केवल ऐसा करने से ही तुम देहबन्धन से मुक्त हो सकोगे। और इस प्रकार देह से आसक्ति हट जाने के बाद देहत्याग होते ही तुम आज़ाद या मुक्त हो जाओगे। मुक्त होओ, केवल देह की मृत्यु हमें कभी मुक्त नहीं कर सकती। जीवित रहते ही हमें अपनी चेष्टा द्वारा मुक्तिलाभ करना होगा। तभी, देहपात हो जाने पर उस मुक्त पुरुष का फिर और पुनर्जन्म नहीं होगा।

सत्य का विचार सत्य के द्वारा ही करना होगा, अन्य किसी के द्वारा नहीं। लोगों का हित करना ही सत्य की कसौटी नहीं है। सूर्य को देखने के लिये मशाल की आवश्यकता नहीं है। यदि सत्य समस्त जगत् का ध्वंस करता है, तो भी वह सत्य ही है; इस सत्य को पकड़े रहो।

धर्म का बाह्य अनुष्ठान करना सरल है — इसी हेतु वह साधारण मनुष्यों को आकृष्ट करता है, किन्तु प्रकृत पक्ष में बाह्य अनुष्ठान में कुछ नहीं है।

"जिस प्रकार मकड़ी अपने भीतर से ही जाल का विस्तार करती है, और फिर स्वयं उसे अपने भीतर समेट लेती है, उसी प्रकार ईश्वर इस जगत्प्रपञ्च का विस्तार करते हैं, और फिर उसे अपने भीतर समेट लेते हैं।"

६ अगस्त, मङ्गलवार

'मैं' न रहने पर बाहर में 'तुम' नहीं रह सकता। इससे कुछ दार्शनिकों ने यह सिद्धान्त निकाला कि 'मैं' में ही बाह्य जगत् रहता है — 'मैं' को छोडकर इसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। 'तुम'

केवल 'मैं' में ही रहता है। दूसरों ने इसी प्रकार ठीक इसके विपरीत तर्क करके प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि 'तुम' न रहने पर 'मैं' का अस्तित्व प्रमाणित ही नहीं हो सकता। उनके पक्ष में भी युक्ति का बल समान है। ये दोनों ही मत आंशिक रूप से सत्य है —कुछ सत्य हैं, कुछ मिथ्या। देह जिस प्रकार जड़ है और प्रकृति में अवस्थित है, उसी प्रकार चिन्ता भी है। जड़ और मन दोनों ही एक तृतीय पदार्थ में अवस्थित हैं—एक अखण्ड वस्तु ने मानो अपने को दो भागों में विभक्त किया है। इसी एक अखण्ड वस्तु का नाम है आत्मा।

वह मूल सत्ता मानो 'क' है, वही मन और जड़—इन दो रूपों में अपने को प्रकाशित करती है। इस परिदृश्यमान जगत् में इसकी गति कुछ निर्दिष्ट प्रणालियों के अनुसार होती रहती है, उन्हीं को हम नियम कहते हैं। एक अखण्ड सत्ता की दृष्टि से यह मुक्तस्वभाव है, पर बहुत्व की दृष्टि से यह नियमाधीन है। तथापि इस बन्धन के रहने पर भी हमारे भीतर मुक्ति की एक धारणा सर्वदा वर्तमान रहती है, इसी का नाम है निवृत्ति अर्थात् आसक्ति का त्याग करना। और वासनावश जो सब जड़त्वविधायिनी शक्तियाँ हमें सांसारिक कार्य में विशेष रूप से प्रवृत्त करती हैं, उन्हीं का नाम प्रवृत्ति है।

उसी कार्य को नीतिसंगत या सत्कर्म कहा जाता है, जो हमें जड़ के बन्धन से मुक्त करता है। तद्विपरीत जो कुछ है, वह असत्कर्म है। यह जगत्प्रपञ्च अनन्त प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें सभी वस्तुएँ चक्रगति में चलती रहती हैं—जहाँ से आती हैं, वहीं लौट जाती हैं। वृत्त की रेखा के दोनों सिरे बढ़ते बढ़ते फिर स्वयं में मिल जाते

हैं, अतएव यहाँ—इस संसार में कहीं भी विश्राम या शान्ति नहीं है। इस संसाररूपी वृत्त के भीतर से हमें निकलना ही होगा। मुक्ति ही हमारा एकमात्र लक्ष्य है—एकमात्र गति है।

* * * *

बुराई का केवल आकार बदलता है, किन्तु उसका गुणगत कोई परिवर्तन नहीं होता। प्राचीन काल में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' यह नियम था, वर्तमान काल में चालाकी ने उसका स्थान ले लिया है। अमेरिका में दुःख-क्लेश जितना तीव्र है, भारत में उतना नहीं है; क्योंकि यहाँ (अमेरिका में) गरीब लोग अपनी दुरवस्था तथा दूसरों की सम्पन्नशील अवस्था इन दोनों में अत्यधिक अन्तर पाते हैं।

अच्छा और बुरा ये दोनों अच्छेद्य भाव से जड़ित हैं—एक को लेने पर दूसरे को लेना ही होगा। इस जगत् की शक्तिसमष्टि मानो एक ह्रद के समान है—उसमें जैसे तरङ्ग का उत्थान होता है, ठीक उसीके अनुसार पतन भी होता है। समष्टि सम्पूर्ण एक है—अतएव एक व्यक्ति को सुखी करने का अर्थ है एक दूसरे व्यक्ति को अ-सुखी करना। बाहर का सुख केवल जड़ सुख है, और उसका परिमाण निर्धारित है। अतएव सुख का एक कण भी दूसरे के पास से छीने बिना हमें प्राप्त नहीं हो सकता। केवल वही सुख जो जड़ जगत् से अतीत है, बिना किसी को कुछ हानि पहुँचाये प्राप्त किया जा सकता है। जड़ सुख केवल जड़ दुःख का रूपान्तर मात्र है।

जो इस तरङ्ग के उत्थानांश में उत्पन्न हुए हैं और वहीं रहते हैं, वे उसका पतनांश और उसमें क्या है, यह नहीं देख पाते। कभी भी यह मत सोचो कि तुम जगत् को अच्छा और सुखी बना सकते

हो। कोल्हू का बैल अपने सामने बंधी हुई घास की पिंडी पाने की चेष्टा करता है अवश्य, किन्तु उस पिंडी तक किसी भी तरह पहुँच नहीं पाता, केवल कोल्हू घुमाता रहता है। हम लोग भी इसी प्रकार सर्वदा सुखरूपी मृगतृष्णा के पीछे पीछे घूमते रहते हैं, किन्तु वह सर्वदा ही हम लोगों के सामने से दूर होती जाती है—और हम केवल प्रकृति का कोल्हू घुमाते रहते हैं। इस प्रकार कोल्हू घुमाते घुमाते हमारी मृत्यु हो जाती है और उसके बाद फिर से नए सिरे से कोल्हू घुमाना आरम्भ होता है। यदि हम बुराई को दूर करने में समर्थ होते तो कभी भी किसी उच्चतर वस्तु का आभास तक न पाते; बुराई के नष्ट हो जाने के बाद हम सन्तुष्ट होकर बैठे रहते, और कभी भी मुक्त होने की चेष्टा न करते। जब मनुष्य यह देख पाता है कि जड़ जगत् में सुख का अन्वेषण बिल्कुल व्यर्थ है तभी धर्म का आरम्भ होता है। मनुष्य के जितने प्रकार के ज्ञान हैं, वे सब धर्म के अङ्ग मात्र हैं।

मानवदेह में अच्छा-बुरा, ये दोनों आपस में इस प्रकार सामञ्जस्य बनाए रहते हैं कि इसी कारण मनुष्य में इन दोनों से मुक्त हो जाने की इच्छा की सम्भावना रहती है।

जो मुक्त हैं, वे किसी काल में भी बद्ध नहीं होते। मुक्त किस प्रकार बद्ध हुए, यह प्रश्न ही युक्तियुक्त नहीं है। जहाँ कोई बन्धन नहीं है, वहाँ कार्यकारण-भाव भी नहीं है। "मैं स्वप्न में एक शृगाल हुआ था, और कुत्ते ने मेरा पीछा किया था।" अब हम यह प्रश्न कैसे कर सकते हैं कि कुत्ते ने मेरा पीछा क्यों किया था? शृगाल स्वप्न का ही एक अंश था, और कुत्ता भी। दोनों ही स्वप्न हैं, वास्तव में इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। विज्ञान और धर्म दोनों ही हमारे इस बन्धन

के अतिक्रमण में साहाय्यस्वरूप हैं। किन्तु विज्ञान की अपेक्षा धर्म प्राचीन है, और हमारा यह अंधविश्वास है कि वह विज्ञान की अपेक्षा पवित्र है। एक दृष्टि से वह पवित्र है भी, क्योंकि धर्म नीति या चारित्र्य (Morality) को अपना एक अत्यावश्यक अङ्ग समझता है, किन्तु विज्ञान वैसा नहीं समझता।

"पवित्रात्मा धन्य हैं, क्योंकि वे ईश्वर का दर्शन करेंगे।" जगत् के सभी शास्त्र और सभी अवतार चाहे लुप्त हो जायँ, फिर भी यह एकमात्र वाक्य समस्त मानव-जाति को बचा देगा। अन्तर की इस पवित्रता से ही ईश्वर का दर्शन होगा। विश्वरूपी समग्र संगीत में यह पवित्रता ही ध्वनित होती है। पवित्रता में कोई बन्धन नहीं। पवित्रता के द्वारा अज्ञानरूपी आवरण को दूर कर दो, ऐसा करने पर हमारा यथार्थ आत्मस्वरूप प्रकाशित होगा और हम जान सकेंगे कि हम किसी काल में बद्ध नहीं थे। नानात्व-दर्शन ही जगत् में सबसे बड़ा पाप है—सभी को आत्मा-रूप में देखो तथा सभी से प्रेम करो। भेदभाव को पूर्ण रूप से दूर कर दो।

*   *   *   *

पशुप्रकृति लोग भी फोड़े के समान हमारे शरीर के ही अंश हैं। उन्हें खूब यत्नपूर्वक हमें अच्छा करना होगा। दुष्ट मनुष्य की भी ठीक इसी प्रकार लगातार सहायता करते रहो, जब तक कि वह सम्पूर्ण रूप से सुधर नहीं जाता एवं फिर से स्वस्थ और सुखी नहीं हो जाता।

हम जब तक आपेक्षिक या द्वैतभूमि में रहते हैं, तब तक हमें यह विश्वास करने का अधिकार है कि इस आपेक्षिक जगत् की वस्तुओं

द्वारा हमारा अनिष्ट हो सकता है और ठीक उसी प्रकार हमें उनसे सहायता भी मिल सकती है। इस सहायता के भाव को ही विचार करके पृथक् कर लेने पर जो वस्तु उपस्थित होती है, उसीको हम ईश्वर कहते हैं। ईश्वर कहने पर हमारी यह धारणा होती है कि हम जितने प्रकार की सहायता पा सकते हैं, वे उसके समष्टिस्वरूप हैं।

जो कुछ हम लोगों के प्रति करुणासम्पन्न है, जो कुछ कल्याण-प्रद है, या जो कुछ हमारा सहायक है, ईश्वर उन सभों के सार-समष्टि-स्वरूप हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में हमें यही एकमात्र धारणा रखना उचित है। हम जब अपने को आत्मा-रूप में अनुभव करते हैं, तब हमारा कोई शरीर नहीं होता। अतएव 'हम ब्रह्म हैं, विष भी हमें कोई क्षति नहीं पहुँचा सकता,' यह कथन ही एक स्वविरोधी वाक्य है। जब तक हमारा शरीर रहता है, और उस शरीर को हम देखते हैं, तब तक हमें ईश्वरोपलब्धि नहीं होती। नदी का ही जब लोप हो गया, तब क्या उसके भीतर का छोटा आवर्त फिर रह सकता है? सहायता के लिये रुदन करो, ऐसा करने पर सहायता पाओगे — फिर अन्त में देखोगे, सहायता के लिये रोना भी चला गया, साथ साथ सहायता देनेवाले भी चले गये — खेल समाप्त हो गया है, शेष रह गई है केवल आत्मा।

एक बार यह हो जाने पर फिर लौटकर यथेच्छ खेल कर सकते हो। तब फिर देह के द्वारा कोई बुरा कार्य नहीं हो सकेगा; कारण, जब तक हमारे भीतर की कुप्रवृत्तियाँ जलकर भस्मसात् नहीं हो जातीं, तब तक मुक्तिलाभ नहीं होगा। जब यह अवस्था प्राप्त होती है, तब हमारा सभी मल भस्म हो जाता है, और अवशिष्ट रह जाता है — "ज्योतिरिव अधूमकम्" तथा "दग्धेन्धनमिवानलम्"।

उस समय प्रारब्ध हमारे शरीर को संचालित करता है, किन्
उसके द्वारा उस समय केवल अच्छा ही कार्य हो सकता है, क्योंकि
मुक्तिलाभ होने के पहले सब बुराई चली जाती है। चोर ने क्रॉस प
विद्ध होकर मरने के समय अपने प्राक्तन कर्म का फललाभ किया था।*
वह निश्चित ही पूर्व जन्म में योगी था, उसके बाद योगभ्रष्ट हो जाने के
कारण उसे जन्म लेना पड़ा; उसका इस प्रकार पतन होने से उसे
परजन्म में चोर होना पड़ा। किन्तु भूतकाल में उसने जो शुभ का
किया था, उसका फल फलित हुआ। मुक्ति प्राप्त करने का उसका
जब समय आया, तभी उसकी ईसा मसीह के साथ भेंट हुई, और
उनकी एक बात से ही वह मुक्त हो गया।

बुद्ध ने अपने प्रबलतम शत्रु को मुक्ति दी थी, क्योंकि वह
व्यक्ति उनसे इतना द्वेष करता था कि इस द्वेष के कारण वह सर्वदा
उनका चिन्तन करता रहता था। बुद्ध का लगातार चिन्तन करने
से उसका चित्त शुद्ध हो गया था और वह मुक्तिलाभ करने का
अधिकारी हो गया। अतएव सर्वदा ईश्वर का चिन्तन करो, इस चिन्तन
के द्वारा तुम पवित्र हो जाओगे।

* * * *

[इसके बाद दूसरे दिन स्वामीजी 'सहस्रद्वीपोद्यान' (Thousand
Island Park) छोड़कर न्यूयार्क चले गये; अतएव यह उपदेशावली
यहीं समाप्त हुई।]

---

* बाइबिल में उल्लेख है कि ईसा मसीह को क्रॉस पर विद्ध करने के समय एक
चोर को भी क्रॉस पर विद्ध कर दिया गया था — वह ईसा मसीह में विश्वास
करके मुक्त हो गया — उसने अपने पूर्व कर्मफल से ही ईसा की कृपा प्राप्त की थी।

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३. **श्रीरामकृष्णवचनामृत**–तीन भागों में–अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला', प्रथम भाग (तृतीय संस्करण)—मूल्य ६); द्वितीय भाग—मूल्य ६); तृतीय भाग—मूल्य ७॥)

४-५. **श्रीरामकृष्णलीलामृत**—(विस्तृत जीवनी)—(तृतीय संस्करण)–दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६. **विवेकानन्द-चरित**–(विस्तृत जीवनी)–सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७. **विवेकानन्दजी के संग में**–(वार्तालाप)–शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि. सं. मूल्य ५।)

८. **परमार्थ-प्रसंग**—स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द, मूल्य ३॥)
कार्डबोर्ड की जिल्द, ,, ३।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

९. **भारत में विवेकानन्द** ५)
१०. **ज्ञानयोग** (प्र. सं.) ३)
११. **पत्रावली** (प्रथम भाग) (प्र. सं.) २=)
१२. **पत्रावली** (द्वितीय भाग) (प्र. सं.) २=)
१३. **धर्मविज्ञान** (प्र. सं.) १॥=)
१४. **कर्मयोग** (द्वि. सं.) १॥=)
१५. **हिन्दू धर्म** (द्वि. सं.) १॥)
१६. **प्रेमयोग** (तृ. सं.) १।=)
१७. **भक्तियोग** (तृ. सं.) १।=)
१८. **आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग** (तृ. सं.) १।)
१९. **परिव्राजक** (च. सं.) १।)
२०. **प्राच्य और पाश्चात्य** (च. सं.) १।)
२१. **महापुरुषों की जीवन-गाथायें** (प्र. सं.) १।)
२२. **राजयोग** (प्र. सं.) १=)
२३. **स्वाधीन भारत! जय हो!** (प्र. सं.) १=)
२४. **धर्मरहस्य** (प्र. सं.) १)
२५. **भारतीय नारी** (प्र. सं.) ॥।)
२६. **शिक्षा** (प्र. सं.) ॥=)
२७. **शिकागो-वक्तृता** (पं. सं.) ॥=)
२८. **हिन्दू धर्म के पक्ष में** (द्वि. सं.) ॥=)

२९. मेरे गुरुदेव (च. सं.) ॥≈)
३०. कवितावली (प्र. सं.) ॥≈)
३१. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ (प्र. सं.) ॥≈)
३२. शक्तिदायी विचार (प्र. सं.) ॥≈)
३३. वर्तमान भारत (तृ. सं.) ॥)
३४. मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वि. सं.) ॥)
३५. पवहारी बाबा (द्वि. सं.) ॥)
३६. मरणोत्तर जीवन (द्वि. सं.) ॥)
३७. मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनायें (प्र. सं.) ॥)
३८. सरल राजयोग (प्र. सं.) ॥)
३९. मेरी समर-नीति (प्र. सं.) ।≋)
४०. ईशदूत ईसा (प्र. सं.) ।≈)
४१. विवेकानन्दजी से वार्तालाप (प्र. सं.) ।≈)

४२. विवेकानन्दजी की कथायें (प्र. सं.) १।)
४३. श्रीरामकृष्ण-उपदेश (प्र. सं.) ॥≈)
४४. वेदान्त—सिद्धान्त और व्यवहार—स्वामी शारदानन्द, (प्र. सं.) ।≈)

मराठी विभाग

१-२. श्रीरामकृष्ण-चरित्र—प्रथम भाग (तिसरी आवृत्ति) ४।)
द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति) ४।≈)
३. श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा (दुसरी आवृत्ति) ॥।≈)
४. शिकागो-व्याख्यानें—(दुसरी आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ॥≈)
५. माझे गुरुदेव—(दुसरी आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ॥≈)
६. हिंदु-धर्माचें नव-जागरण—स्वामी विवेकानंद ॥-)
७. पवहारी बाबा—स्वामी विवेकानंद ॥)
८. साधु नागमहाशय-चरित्र (भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शिष्य)—(दुसरी आवृत्ति) २)
९. कर्मयोग—स्वामी विवेकानंद १॥≈)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर – १, म. प्र.

मूल्य २ रु. २ आ.